रवीन्द्र-साहित्य : भाग २३

चित्राङ्गदा और लक्ष्मीकी परीक्षा

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

✦

अनुवादक

श्यामसुन्दर खत्री

✦

ग्रन्थमाला-सम्पादक

धन्यकुमार जैन

✦

हिन्दी-ग्रन्थागार

पी-१५, कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता - ७

चित्राङ्गदा

नाट्यकाव्य

सूचना

बहुत वर्ष पहले रेलगाड़ीमें बैठा शान्ति-निकेतनसे कलकत्तेकी तरफ जा रहा था। तब शायद चैतका महीना होगा। रेल-लाइनके किनारे-किनारे पेड़-पौधोंका जंगल था। पीले-बैंगनी-सफेद फूल खिल रहे थे काफी। देखते देखते चिन्ता आई मनमें कि और-कुछ देर बाद ही घाम हो जायेगी और तब फूल अपने रंगोंकी मरीचिकामें आप ही बिला जायेंगे। तब पल्ली-प्राङ्गणोंमें आम लग उठेंगे डाल-डालपर और तरु-प्रकृति अपने हृदयके निगूढ़ रस-सञ्चारका स्थायी परिचय देगी अपने अप्रगल्भ फल-सम्भारसे। इसके साथ ही, न-जाने क्यों, सहसा मेरे मनमें यह बात उठ आई कि सुन्दरी युवती यदि यह अनुभव करे कि उसने अपने यौवनकी मायासे प्रेमीके हृदयको मुग्ध कर रखा है, तो वह अपने स्वरूपको ही, अपने सौभाग्यके मुख्य अंशमें हक जमानेके अपराधमें, 'सौत' के रूपमें धिक्कार दे सकती है। यह जो उसकी बाहरकी चीज है, मानो यह ऋतुराज बसन्तसे मिला-हुआ वर हो, क्षणिक मोह-विस्तारके द्वारा जैव उद्देश्य सिद्ध करनेके लिए। यदि उसके हृदयमें यथार्थ चरित्र-शक्ति हो तो उस मोह-मुक्त शक्तिका दान ही उसके प्रेमीके लिए महान लाभ है, और वही युगल जीवनकी जययात्राका सहायक है। उस दानमें ही आत्माका स्थायी परिचय है, इसके परिणाममें क्लान्ति नहीं, अवसाद नहीं ; अभ्यासके धूलि-प्रलेपसे उसकी उज्ज्वलतामें मालिन्य नहीं आता। यह चरित्र-शक्ति ही जीवनका ध्रुव सम्बल है, मूल-धन है ; निर्मम प्रकृतिके क्षणिक या आशु प्रयोजनपर वह अवलम्बित नहीं। अर्थात् इसका मूल्य मानविक है, प्राकृतिक नहीं है यह।

इस भावको नाट्य-आकारमें प्रकट करनेकी इच्छा उसी समय मनमें आई और साथ ही याद उठ आई 'महाभारत' की चित्राङ्गदाकी कथा। यह कहानी कुछ रूपान्तर लिये-हुए बहुत दिनोंसे मेरे मनमें प्रच्छन्न थी। अन्तमें लिखनेका आनन्दित अवकाश मिला उड़िष्याके पाण्डुआ नामक एक निभृत गाँवमें।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

१

अनङ्ग - आश्रम

चित्राङ्गदा, मदन और वसन्त

चित्राङ्गदा— तुम्हीं क्या हो पञ्चशर ?

मदन— मैं ही हूं मनोज वह,
सभी नर - नारियोंका हृदय जो लाता खींच
वेदनाके बन्धनमें।

चित्राङ्गदा— कैसी वह वेदना है,
कैसा वह बन्धन है, जानती है दासी खूब।
हे अनङ्ग, पदोंमें प्रणाम मेरा स्वीकृत हो।
प्रभु, तुम कौन देव ?

वसन्त— शुभे, ऋतुराज हूं मैं।
मरण वार्द्धक्य दोनों दैत्य किया चाहते हैं
निमिष - निमिषपर विश्वको कंकाल - मात्र ;
प्रति पद पीछा कर और आक्रमण कर
रात - दिन उनसे जो युद्ध किया करता है,
अखिल जगत्‌का मैं यौवन अनन्त वही।

चित्राङ्गदा— भगवन्, तुमको प्रणाम। मैं कृतार्थ हुई
देव - दर्शनोंसे आज।

मदन— कल्याणी, कठोर यह
व्रत तव किस हेतु ? तपकी ज्वालामें तप
यौवन - कुसुम तुम कर रहीं म्लान खिन्न ;
ऐसा तो विधान नहीं कामकी उपासनाका।
कौन तुम, चाहतीं क्या ?

चित्राङ्गदा— सदय जो हो तो सुनो
मेरा इतिहास आगे। प्रार्थना जताऊँगी मैं
पीछे फिर।

मदन— उत्सुक हूँ सुननेको, कहो, भद्रे।

चित्राङ्गदा— सुनो, मैं चित्राङ्गदा हूँ, मणिपुर-राजकन्या।
मेरे पितृवंशमें न जन्म लेगी कन्या कभी—
देव उमापतिने था दिया वरदान ऐसा,
तपसे सन्तुष्ट होके। विफल मैंने ही किया
महावरदान वह। अविचल देव-वाक्य
गर्भमें माताके पैठ शैव तेजसे भी मेरे
दुर्बल प्रारम्भको पुरुष बना सका नहीं।
ऐसे कड़े पानीकी नारी हूँ।

मदन— सुन चुका हूँ मैं।
इसीसे पिताने तुम्हें पुत्रवत् पाला-पोसा,
धनुर्विद्या राजदण्ड-नीतिकी दी शिक्षा तुम्हें।

चित्राङ्गदा— अतएव, भगवन्, पुरुषके वेशमें ही
बन युवराज किया करती हूं राज-काज;
घूमती स्वच्छन्द हूं मैं; नहीं जानती हूं लज्जा,
भय, अन्तःपुर-वास; ज्ञात नहीं हाव-भाव,
न विलास-चातुरी ही;—सीखी मैंने धनुर्विद्या;
केवल न सीखा मैंने, देव, तव पुष्प-धनु
कैसे बाँका किया जाता नयन-कोरोंसे मञ्जु।

वसन्त— हे मृगाक्षि, विद्या यह सीखती न कोई नारी;
किया करते हैं काम अपना नयन आप।
बींधते ये जिसका हृदय वही मर्म जाने।

चित्राङ्गदा— एक दिन गई थी अकेली मृग खोजने मैं
पूर्णा-नदी-तीरवर्ती सघन वनोंमें। वहाँ
विटपके मूलसे मैं बाँध कर अश्व निज,
दुर्गम कुटिल वन-पथमें प्रवेश कर
मृग-पद-चिह्न अनुसरण थी कर रही।

झिल्ली - मन्द्र - मुखरित चिर - अन्धकारावृत
लता - गुल्म - गहन गभीर महारण्यमें मैं
गई कुछ दूर ज्यों ही, सहसा विलोका मैंने, —
रोकके सङ्कीर्ण वह पथ भूमि - तलपर
सो रहा है चीर - धारी मलिन पुरुष कोई।
झिड़कके कहा मैंने उठनेको, हटनेको।
हिला नहीं, मुँह फेर ताका भी न मेरी ओर।
उद्धत अधीर क्रुद्ध होके मैंने कोंचा उसे
धनुषका कोना। वह सरल - सुदीर्घ - तनु
उसी क्षण तीर - सा सवेग उठ खड़ा हुआ
मेरे आगे, भस्म - सुप्त अग्नि पाके घृताहुति
उठती धधक शिखा - रूपमें ज्यों ऊर्ध्वगति
पलक झपकतेमें। उसने क्षणेक देखा
मम मुख - ओर, बस, पलमें विलीन हुई
उसकी सरोष दृष्टि। अधरोंमें नाच उठी
स्निग्ध गुप्त कौतुककी मृदु - मन्द हास्य - रेखा,
सम्भवतः देखकर बालक-सा रूप मेरा।
पुरुषोंकी विद्या सीख, पुरुषों-सा वेश धर,
पुरुषोंके साथ रह इस दीर्घ - काल तक
भूले जो थी बैठी, एक पल वह मुख लख,
अपनेमें आप ही अटल वह मूर्ति देख,
उसी क्षण बोध हुआ मनमें कि नारी हूँ मैं।
उसी क्षण पहले - पहल मुझे दीख पड़ा
सम्मुख पुरुष मेरे।

मदन— यह थी मेरी ही शिक्षा।
चेतना, सुलक्षणे, मुझीसे पाके एक दिन
जीवनके किसी शुभ पुण्यमय क्षणमें ही

नारी बन जाती नारी, पुरुष पुरुष होता।
हुआ क्या बताओ आगे ?

चित्राङ्गदा— भय और विस्मयसे
पूछा मैंने, "कौन तुम ?" उत्तर मिला कि "मैं हूँ
पार्थ, कुरुवंशधर।"

चित्र - लिखी-सी ही मैं तो
खड़ी रह गई, भूली करना प्रणाम उन्हें।
ये हैं पार्थ ? आजन्मके विस्मय-विषय मेरे ?
सुना तो अवश्य था कि सत्यव्रत - पालनार्थ
पार्थ वन - वन घूम बारह - बरस - व्यापी
ब्रह्मचर्य पाल रहे। ये ही हैं वे पार्थ वीर !
बाल्य - दुराशाके वश कितने ही दिनोंसे मैं
सोचती थी, निष्प्रभ करूँगी भव्य पार्थ-कीर्ति
निज बाहुबल द्वारा ; साधूँगी अव्यर्थ लक्ष्य ;
पुरुषका छद्मवेश धर रण - याचना मैं
उनसे करूँगी, दूँगी वीरताका परिचय।
हा री मुग्धे, कहाँ चली गई वह स्पर्धा तेरी !
वे हैं जिस भूमिपर खड़े उस भूमिकी जो
होती तृणराशि मैं, तो उनके चरण-तले
शौर्य - वीर्य सब - कुछ धूलमें मिलाके पाती
दुर्लभ दुष्प्राप्य मृत्यु।

सोच क्या रही थी तब,
याद नहीं। देखती ही रही, और चले गये
धीरे - धीरे वन - अन्तरालमें वे वीरवर।
चौंक पड़ी, उसी क्षण चेत हुआ ; अपनेको
ग्लानिसे धिक्कारा मैंने सौ-सौ बार। हा री मूढ़े,
न तो किया सम्भाषण, न तो कोई बात पूछी,

और न क्षमा ही माँगी ; खड़ी रही बर्बर-सी,
करके अवज्ञा तेरी चल दिये वीरवर!
मर गई होती उसी घड़ी जो, तो जी जाती मैं।
दूसरे दिवस मैंने प्रात ही उतार फेंका
अपना पुरुष-वेश। पहनके रक्ताम्बर,
कङ्कण किंकिणी काञ्चि भूषण धारण किये।
अनभ्यस्त साज थे ये। लज्जित औ' संकुचित
हो रहा था अंग-अंग।

गई उसी वनमें मैं
चुपके-से। वहाँ शिव-मन्दिरमें देखा उन्हें।

मदन— कहे जाओ, बाले, तुम मुझसे न लज्जा करो।
मैं तो हूँ मनोज, मुझे ज्ञात हैं रहस्य सारे
मानसके।

चित्राङ्गदा— ठीकसे नहीं है याद, फिर मैंने
उनसे क्या कहा और उत्तर क्या मिला मुझे।
आगे और पूछो मत, भगवन्! सिरपर
लाज बन गाज गिरी, फिर भी न कर सकी
शत-शत खण्ड मुझे, — नारी होनेपर भी हैं
ऐसे ही कठिन ये पुरुष-प्राण मेरे, हाय!
याद नहीं, कैसे मैं दुःस्वप्न-विह्वला-सी कब
घर लौट आई। किन्तु शेष वाक्य अर्जुनका
रह-रह कानोंमें था भोंक देता तप्त शूल, —
"अयि वरारोहे, मैं हूँ ब्रह्मचर्य-व्रत-धारी,
पति होने योग्य नहीं।"

पुरुषका ब्रह्मचर्य!
धिक् मुझे, उसे भी न डिगा सकी तिल-भर!
तुम्हें ज्ञात, मीनकेतु, कितने ही ऋषि-मुनि

फल तपस्याओंके विसर्जन हैं कर चुके
नारि - पद - पल्लवोंमें। क्षत्रियका ब्रह्मचर्य !
घर आके मैंने तोड़ - फोड़के उछाल फेंके
धनुष औ' बाण सारे। घट्टे पड़े - हुए जिन
कठिन कठोर बाहु - युगपर गर्व रहा
उनकी हीं लाञ्छना की विफल आक्रोश-वश।
इतने दिनोंके बाद समझी कि नारी होके
पुरुषका मन यदि जीत नहीं सकती हूँ
वस्तुतः तो वृथा मेरी सारी विद्या, सारी बुद्धि।
अबलाके मृदुल मृणाल - बाहु - युगमें है
मेरे इन बाहुओंसे सौगुनी अधिक शक्ति।
धन्य - धन्य वह मुग्ध मूर्ख क्षीणतनु - लता
पराश्रिता लज्जा - भय - संकुचिता साधारण
ललना है, जिसकी सन्त्रस्त चितवनसे ही
घोर - तप - तेज बल - विक्रम औ' शौर्य - वीर्य
हार मान बैठते हैं।

तुमने, अनङ्गदेव,
मेरा सारा दम्भ एक क्षणमें विलीन किया;
सारी विद्या, सारा बल पैरोंसे कुचल दिया।
दया कर अब मुझे अपनी सिखाओ विद्या;
दे दो मुझे अबलाका बल, दे दो मुझे अस्त्र
जो-कुछ निरस्त्रोंके हों।

मदन— होऊँगा सहाय तव।
अयि शुभे, विश्वजयी अर्जुनको जीतकर
बन्दी बना सामने तुम्हारे कर दूँगा खड़ा।
जो जी चाहे देना उसे दण्ड - पुरस्कार तुम
रानी बन। कर लेना शासन विद्रोहीपर।

चित्राङ्गदा— समय नहीं है अब, नहीं तो अकेली मैं ही
तिल - तिल उनके हृदयपर स्वाधिकार
जमा लेती, और नहीं चाहती सहायता मैं
देवताकी। सङ्गी बन सङ्ग रहा करती मैं,
सारथि समरमें मैं होती, होती मृगयामें
अनुचर, शिविरके द्वारपर प्रहरी हो
सारी रात जागती मैं, करती मैं पूजा नित
भक्त बन, भृत्य बन करती मैं सेवा नित,
क्षत्रियके महाव्रत आर्त - परित्राण हेतु
सखा बन उनकी सहाय होती सर्वदा मैं।
किसी दिन आँख उठा देखते कौतूहलसे
मेरी ओर, और फिर मनमें विचारते यों,—
'यह कौन बालक है, मेरा पूर्वजन्म - दास,
सङ्ग लगा मेरे इस जन्ममें सुकृति - तुल्य ?'
धीरे - धीरे खोलती मैं उनके हृदय - पट
और प्राप्त कर लेती वहाँ चिरस्थायी स्थान।
जानती हूँ, मेरा यह प्रेम नहीं क्रन्दनका ;
चुपचाप धैर्यसे जो नारी चिर - मर्म - व्यथा
रातों रो - रो हृदयके आँसुओंसे सींचती है,
दिवसमें म्लान हँसी - तले ढके रहती है,
आजीवन विधवा, मैं ऐसी हूँ कदापि नहीं ;
होनेकी नहीं है मेरी कामना विफल कभी।
एक बार निजको प्रकाशित जो कर सकूं,
निश्चय पकड़में आ जायेंगे वे। हत - विधि,
देखा उस दिनने क्या ! लज्जा-भय-संकुचित
शङ्कित कम्पित एक विह्वल विवश नारी
करती प्रलाप रही। किन्तु क्या यथार्थमें मैं

वैसी ही हूं ? गृहोंमें पथोंमें औ' सर्वत्र जैसी
नारियाँ सहस्रों बस क्रन्दनाधिकारिणी हैं,
उनसे अधिक कुछ नहीं हूँ क्या ? किन्तु हाय,
देनेको स्व - परिचय चाहिए अमित धैर्य,
अमित समय ; यह कार्य सारे जीवनका,
व्रत जन्म - जन्मका है। इसीसे तुम्हारे द्वार
आई हूँ मैं ; किया मैंने कठिन कठोर तप।
हे भुवन - जयी देव, हे महासुन्दर मधु,
मेटो, एक दिनके लिए ही बस, मेटो तुम,
जन्मदाता विधिने जो दिया शाप विना दोष,
दिया है जो मुझे, हाय, नारीका कुरूप यह।
करो एक दिनको ही सुन्दरी अपूर्व मुझे।
देव, दे दो एक दिन ; बादके दिवस फिर
मैं स्वयं सम्हाल लूंगी। उनको प्रथम मैंने
देखा जब, तब मुझे लगा मानो क्षणमें ही
सुषमा अनन्त लिये उरमें वसन्त पैठा।
जागी उस यौवन-उच्छ्वासमें बड़ी ही इच्छा,—
देखते ही देखते समस्त वपु मेरा कहीं
अभिनव पुलकित होके प्रस्फुटित होता
लक्ष्मी - पद - चुम्बित अनिन्द्य अरविन्द - सम !
हे वसन्त, हे वसन्त - सखे, इस कामनाको
मात्र एकदिनके लिए हो तुम पूरी करो।

मदन— एवमस्तु।

वसन्त— एवमस्तु। केवल न एक दिन,
एक वर्ष तलक वसन्तकी कुसुम - शोभा
घेरे - हुए तव तनु रहेगी सुविकसित।

२

मणिपुर : वनमें शिवालय

अर्जुन

अर्जुन— किसे देखा मैंने ? वह सत्य था कि माया रही ?
विजन सघन वन, सोहता विमल सर,
ऐसा रम्य जनशून्य स्थान ; जान पड़ता है
वहाँ वनदेवियाँ हैं आती स्नान करनेको
दिन - चढ़े, सुगभीर पूर्णिमाकी रजनीमें
उसी सुप्त सरके सुस्निग्ध शस्य - तटपर
करतीं शयन, पातीं निर्भय विश्राम - सुख
स्खलित-अञ्चल होके ।

निकट दिनान्त रहा,
विटपोंकी आड़में मैं वहाँ बैठा सोचता था
अशैशव जीवनकी बातें ; मूढ़ जगतके
मूढ़ताके खेल, सुख - दुःखके उलट - फेर,
जीवनका असन्तोष, असम्पूर्ण आशा, तृषा,
दीनता दरिद्रता अनन्त मर्त्य - मानवकी ।
ऐसे ही समय घन तरु - अन्धकारमें से
प्रकट हो धीरे - धीरे आ खड़ी हो गई कौन
सरसी - सोपानके सुश्वेत शिला - पटपर ?
क्या ही था अपूर्व रूप ! कोमल चरण-तले
हो गया धरातल था अचल अटल कैसा !
ऊषाका सुवर्ण मेघ देखते ही देखते ज्यों
निष्कलंक नग्न शोभा अपनी बिखेर कर
होता है विलीन शुभ्र पूर्व - गिरि - शृङ्गपर,
त्यों ही वस्त्र उसके, आनन्दके आवेशमें आ

अङ्गोंके लावण्यमें विलीन हुआ चाहते थे।
धीरे - धीरे तीरपर उतर कौतूहलसे
नीरमें विलोका ज्यों ही मुख-प्रतिविम्ब निज,
चौंक पड़ी चकित-सी। दूसरे ही क्षण हँस,
अवलीला - भावसे, उठाती - हुई वाम बाहु,
खोल दिया कवरीको ; विखरके विह्वल - से
मुक्त केश-दाम लगे चूमने चरण चारु।
अञ्चल हटाके फिर उसने निहारे निज
स्पर्श - रस - कातर - से कोमल ललित मञ्जु
प्रेम - करुणामें सने सुन्दर अनिन्द्य बाहु।
सिर झुका देखा परिस्फुट देह - तटपर
कमनीय उन्मुख उभार नव - यौवनका।
फिर देखा उसने कि गौरकान्ति तनुपर
ईषत् सलज्जताकी रक्तिमाभा खेलती थी।
सरसीमें पैर डुबा देखी पद-आभा मञ्जु।
विस्मय असीम उसे हो रहा था ऐसा मानो
देखती हो अपनेको वह पहली ही बार !
मानो श्वेत शतदल पद्मने व्यतीत की हो
कलीकी अवस्था निज आँखें बन्द किये - हुए।
जिस दिन प्रथम प्रभातमें पा पूर्ण शोभा
खिला वह, उसी दिन उसने ज्यों मोड़ ग्रीवा
नील सर - नीरमें विलोका पहली ही बार
अपनेको, विस्मयसे ताकता ही रह गया
सारा दिन। क्षण - भर बाद उस सुन्दरीकी
हँसी, कौन जाने किस दुःखसे, विलीन हुई ;
लोचन मलीन हुए। छूटे केश - पाश बाँध,
आँचल सम्हाल निज, खुला - हुआ तन ढक,

एक ठंडी साँस लेके धीरे - धीरे चली गई ;
जैसे स्वर्णवर्ण सन्ध्या कातर मलीन - मुख
मन्द - मन्द जाती है अँधेरी रजनीकी ओर ।

मैंने सोचा, धरणी विभव खोल बैठी निज ।
कामनाकी पूर्णता चमक कर लीन हुई ।
सोचा मैंने, कैसे - कैसे युद्ध, कैसी - कैसी हिंसा,
पुरुषोंके पौरुषके कैसे - कैसे आडम्बर,
गौरव महान्, नित्य वीरताकी कीर्ति - तृषा —
ये समस्त शान्त क्षान्त होके उस पूर्णतम
सुषमा - सौन्दर्यके समक्ष भूमें लोटते हैं,—
जैसे पशुराज सिंह सिंहवाहिनीके चारु
लोक - मनोवाञ्छित पदाम्बुजोंमें लोटता है ।
फिर यदि एक बार ··· कौन खड़काता द्वार ?
(द्वार खोलकर) यह क्या, है वही मूर्ति ! शान्त हो हे, मेरे उर !
मुझसे वरानने, न भयका है कोई काम ।
मैं हूं क्षत्रवंश - जात, भयभीत दुर्बलोंका
भयहारी ।

[चित्राङ्गदाका प्रवेश]

चित्राङ्गदा— आर्य, तुम अतिथि हो मेरे आज ।
आश्रम है मेरा यही देवालय । नहीं ज्ञात
कैसे मैं अभ्यर्थना तुम्हारी करूँ, क्या सत्कार
करूँ मैं तुम्हारा, कैसे तुमको सन्तुष्ट करूँ ।

अर्जुन— अतिथि - सत्कार, हे सुमुखि, तव दर्शन है ।
तव शिष्ट - वाक्य हैं सौभाग्यके विषय मेरे ।
दोष जो न मानो, एक बात पूछा चाहता हूं,
चित्त बड़ा उत्सुक है ।

चित्रांगदा— निर्भय हो पूछो, आर्य !

अर्जुन— शुचिस्मिते, कौन - सा कठोर व्रत पालनार्थ
अमित उपेक्षासे विसर्जन हो कर रही
निर्जन शिवालयमें ऐसी दिव्य रूपराशि,
वञ्चित अभागे मर्त्यवासी मानवोंको कर ?

चित्रांगदा— एक गुप्त कामनाकी पूर्तिके लिए मैं यहाँ
शङ्करकी पूजा किया करती एकाग्र - चित्त।

अर्जुन— हाय, क्या है कामना तुम्हारी, हे सौन्दर्यमयी ?
जगतकी कामनाकी निधि तुम आप ही हो।
उदय - शिखरसे मैं अस्त - गिरि तक घूमा;
सातों द्वीप - खण्डोंमें है जो - कुछ भी दर्शनीय,
सुन्दर, सुदुर्लभ, महान औ' अचिन्तनीय,
वह सभी - कुछ इन आँखोंसे हूं देख चुका।
चाहिए क्या, चाहती हो किसे, जो बताओ मुझे,
समाचार उसका मैं दूँगा तुम्हें।

चित्राङ्गदा— चाहती हूं
जिसे, उसे भुवनमें कौन नहीं जानता है ?

अर्जुन— ऐसा कौन पृथ्वीपर जिसकी सुकीर्ति - राशि
देव - काम्य तव मनोराज्यमें प्रवेश कर
आसन अलभ्य अधिकार किये बैठी वहाँ ?
उसका बताके नाम, सुन्दरी, कृतार्थ करो।

चित्राङ्गदा— सर्वश्रेष्ठ नरपति - वंश - अवतंस हैं वे,
सर्वश्रेष्ठ वीर हैं वे।

अर्जुन— मिथ्या ख्याति फैल जाती
मुँहों - मुंह कानों - कान; जैसे क्षणस्थायी वाष्प
छलसे ऊषाको ढके रहता है तभी तक
जब तक उगता न सूर्य। हे सरलचित्ते,

दुर्लभ सौन्दर्यकी सुसम्पदासे करो मत
मिथ्याकी उपासना। हाँ, सुनूं यह धरणीके
सर्वश्रेष्ठ कुलमें है कौन सर्वश्रेष्ठ वीर ?

चित्रांगदा— पर-कीर्ति-असहिष्णु तुम, हे संन्यासी, कौन ?
किसे नहीं विदित है कुरु-वंश भुवनमें
राजवंश-चूड़ा ?

अर्जुन— कुरुवंश !

चित्रांगदा— उस वंशमें ही
अक्षय-अशेष-यश जो वीरेन्द्र-केशरी हैं,
उनका है सुना नाम ?

अर्जुन— सुनूँगा तुम्हारे मुँह।

चित्रांगदा— अर्जुन, गाण्डीव-धारी, अजय भुवन-जयी।
अक्षय है नाम यह, लूट लाई जगसे मैं।
अपना कुमारी-उर इससे ही पूर्ण कर,
रखे हूं मैं यत्नसे छिपाके इसे। ब्रह्मचारी,
इतने अधीर क्यों हो ?

तो क्या यह मिथ्या ही है ?
अर्जुनका नाम मिथ्या ? तुम्हीं बतलाओ अब।
मिथ्या वह नाम हो, तो उर कर चूर-चूर
उरसे निकाल फेंकूं; उड़ा करे मुँहों-मुँह
शून्य महाशून्यमें ही। उसका है नहीं स्थान
नारीके अभ्यन्तरमें।

अर्जुन— सुनो, अयि वराङ्गने,
वही पार्थ, वही पाण्डु-तनय, गाण्डीव-धारी,
वही भाग्यवान् तव-पद-शरणागत है।
उसकी सुख्याति, नाम उसका औ' शौर्य-वीर्य
मिथ्या हो या सत्य, जिस लोकमें अलभ्य उसे

स्थान - दान दे चुकी हो ; वहाँसे ढकेलकर
उसको गिराना मत, हतभाग्य क्षीण - पुण्य
स्वर्गलोक-विच्युत-सा।

चित्रांगदा— अच्छा, तो क्या तुम्हीं पार्थ?

अर्जुन— मैं ही पार्थ, देवी, तव हृदयके द्वारपर
अतिथि हूं प्रेमप्रार्थी।

चित्रांगदा— सुना था कि ब्रह्मचर्य
बारह - बरस - व्यापी पाल रहे अर्जुन हैं।
वे ही वीर कामिनीकी कर रहे कामना हैं
निज व्रत भङ्ग कर! हे संन्यासी, तुम्हीं पार्थ!

अर्जुन— तुमने ही मेरा व्रत भङ्ग किया, जैसे चन्द्र
उगते ही पलमें मिटाता अर्द्ध - रजनीका
योगनिद्रा - अन्धकार।

चित्राङ्गदा— धिक्, पार्थ, वीर, धिक्!
कौन हूं मैं, क्या है मेरा, तुमने क्या देखा-सुना,
मुझको क्या जानते हो? किस लिए अपनेको
भूले जा रहे हो तुम? सत्यव्रत भङ्ग कर
अर्जुनको क्षणमें अनर्जुन बना रहे हो
किस लिए आज तुम? मेरे लिए नहीं, किन्तु
इन्हीं दोनों नीलकंज - दृगोंके लिए ही, बस?
इन्हीं नवनीत - स्निग्ध युग - बाहुपाशमें ही
सव्यसाची अर्जुन आ फँसे, निज दोनों हाथों
छिन्न कर सत्यव्रत - बन्धनको! गई कहाँ
प्रेमकी मर्यादा? कहाँ धरा रह गया आज
नारीका सम्मान? हाय, अतिक्रम कर गई
मुझको उपेक्षासे ही मेरी यह तुच्छ देह,
अमर अभ्यन्तरकी यह अति - क्षणस्थायी

छद्मवेश-भूषा मेरी ! अभी जान पाई हूँ मैं,
मिथ्या है तुम्हारी ख्याति, वीरता तुम्हारी मिथ्या।

अर्जुन— आज मैं समझ गया, ख्याति मिथ्या, शौर्य मिथ्या।
आज मुझे सातों लोक लगते हैं स्वप्नवत्।
एकमात्र तुम्हीं पूर्ण, तुम्हीं हो सर्वस्व, बस,
विश्वका ऐश्वर्य तुम्हीं ; एक तुम नारी, किन्तु
महा - अवसान सर्व दीनताका तुम्हींमें है,
सर्व कर्म-कृतिकी निवृत्ति - रूपिणी हो तुम्हीं।
जानें क्यों, विलोक तुम्हें, सहसा मैं जान पाया —
प्रथम प्रभातमें तमिस्राके महार्णवमें
किस पूर्णानन्दकी अनूप किरणावलीसे
सृष्टि - शतदल - पद्म कैसे क्षण - भरमें ही
दिग्विदिक सभी ओर हो उठे उन्मेषित थे।
पल - पल तिल - तिल लोग पहचाने जाते
बहुत दिनोंमें, किन्तु तुम्हें मैंने ज्यों ही लखा,
पलमें तुम्हारा मैंने सब - कुछ देख लिया,
फिर भी न अन्त पाया। एक बार मृगयामें
श्रान्त हो कैलासपर तापित तृषातुर मैं
गया था दुपहरीमें कुसुम - विचित्र रम्य
मानसर - तटपर। देखा ज्यों ही झाँककर
उस सुर - सरसीके विमल सलिल - ओर,
मुझको दिखाई दिया अतल अनन्त वहाँ।
जितना ही देखता था नीचे, रहा स्वच्छ जल।
उज्ज्वल मध्याह्न - रवि - रश्मियोंकी रेखावली
स्वर्ण - वर्ण कमलोंके स्वर्ण - वर्ण नालों - संग
मिलकर अतल असीममें जा उतरी थी ;
जलके हिल्लोलसे तरङ्गित हो काँपती थी,

कोटि-कोटि अग्निमयी नागिनी-समूह जैसी।
जान पड़ा, जन्म-श्रान्त कर्म-क्लान्त मृत्युशील
मानवको सूर्य भगवान् सहस्रांगुलिसे
दिखा रहे, कहाँ महासुन्दर अनन्त शान्त
शीतल मरण है। अतलता विमल वही
तुममें मैं देख रहा। चारों ओरसे ही मानो
उंगली उठा-उठाके दैव दिखा रहा है कि
परम अलौकिक तुम्हारे ही आलोकमें है
कीर्ति-क्लिष्ट मेरे इस जीवनका पूर्ण अन्त।

चित्राङ्गदा— नहीं, नहीं, ऐसी मैं कदापि नहीं; हाय, पार्थ,
यह किसी देवताने छल किया। लौट जाओ,
लौट जाओ। मिथ्याकी उपासना न करो, वीर!
मिथ्याके पदोंमें शौर्य वीर्य औ' महत्त्व निज
करो न उत्सर्ग। जाओ जाओ, लौट जाओ तुम।

२

वृक्षकी छायामें चित्राङ्गदा

चित्राङ्गदा— आह, उसे कैसे मैं विमुख कर देती भला!
वह वीर-उरकी थर्राती-हुई व्याकुलता,
कम्पित तृषार्त मानो स्फुलिङ्ग-निश्वासी एक
होमानल-शिखा-सी थी! दृष्टि उन लोचनोंकी
मानो उर-अन्तरका बाहु-जाल बनकर
आई मुझे हरनेको। तोड़ देह-बन्धनको
तप्त उर दौड़ आना चाहता था मेरे पास;
उसकी रुदन-ध्वनि गूंजती सर्वाङ्गमें थी!
क्या मैं उस तृषाको विमुख फेर सकती थी?

[वसन्त और मदनका प्रवेश]

चित्राङ्गदा— हे अनङ्ग देव, कैसे रूपके हुताशनसे
मुझे घेर रखा है कि आप जल रही हूं मैं
और जला रही हूँ मैं।

मदन— कलका सुनाओ हाल।
मेरे पुष्प-शरने क्या कहाँ कैसा कार्य साधा,
तन्वी, सुना चाहता हूं।

चित्राङ्गदा— सन्ध्याके समय कल
सरसीके तृण - पूर्ण तीरपर रची मैंने
पुष्प - शय्या, वासन्ती कुसुम चुन - चुनकर।
थकी-हारी फिर लेट गई अनमनी-सी मैं।
अलसित शीश रखे - हुए वाम बाहुपर
सोच रही थी मैं गत दिवस जो हुई बात।
उस दिन पार्थने जो मेरी प्रेम-स्तुति की थी,
क्रमबद्ध उसीको स्मरण कर रही थी मैं;
उस दिन कानोंमें जो सञ्चित अमृत हुआ
उसको ही बिन्दु-बिन्दु पान कर रही थी मैं।
भूल-सी रही थी निज पूर्व - इतिहास, मानो
बात पूर्व-जन्मकी हो। मानो मैं न राजकन्या,
नहीं मेरा पूर्वापर। मानो पितृ - मातृ - हीन
वन - पुष्प सम एक दिनमें ही पृथ्वीपर
प्रस्फुटित हो गई मैं। गिनतीकी घड़ियोंकी
मिली परमायु बस। इस स्वल्प कालमें ही
सुन लेना होगा मुझे मधुर मधुप-गीत,
वन - वन - मुखरित मर्मरकी हर्षध्वनि।
फिर नील अम्बरसे ऊर्ध्व - दृष्टि नीचे होगी,
ग्रीवा झुक जायगी, पवन झकझोर देगी,

लूट लेगी, टूटकर धूलिसात् होऊँगी मैं,
गिरेगा न आँसू एक, बीचमें समाप्त होगी
आदि - हीन अन्त - हीन कुसुम - कहानी मेरी।

वसन्त— एक ही प्रभातमें, सुमुखि, होता प्रस्फुटित
जीवन अनन्त।

मदन— ज्यों संगीतमें अनन्त भाव
देती है गुञ्जार एक क्षणिक सुरीली तान।
आगे फिर हुआ क्या?

चित्राङ्गदा— विचारमें विमग्न थी मैं,
दक्षिणी समीर झोंके नींदके थी लाने लगी
स्पर्श कर अङ्ग - अङ्ग। सप्तपर्ण - शाखा चढ़ी
मालतीकी फूली लता प्रतिपल करती थी
मेरे अलसाये - हुए गोरे - गोरे तनपर
वृष्टि मौन चुम्बनोंकी; झरते थे खिले फूल
मुझपर, रचते थे निज - निज मृत्यु-सेज
दबकर पदोंमें उरोजोंमें औ' कुन्तलोंमें।
कुछ देर रही मैं अचेत - सी, परन्तु मुझे
निद्रावस्थामें ही कुछ अनुभव ऐसा हुआ
किसीके प्रलुब्ध मुग्ध लोचनोंका दृष्टिपात
दस उंगलियोंके समान बढ़ी लालसासे
स्पर्श कर रहा मेरा निद्रा - अलसित तनु।
चौंकके मैं जाग उठी।

देखा तो, पदोंकी ओर
खड़े थे संन्यासी अनिमेष स्थिर मूर्तिवत्।
पूर्वाचल - शिखरसे धीरे - धीरे चलकर
द्वादशीका चन्द्र झुक पड़ा था प्रतीची - ओर,
अपनी समस्त स्निग्ध उज्ज्वल हिमांशुराशि
डाले दे रहा था वह स्खलित - वसन मेरी

देहके नवीन शुभ्र निर्मल सौन्दर्यपर।
पुष्पोंकी सुगन्धसे था परिपूर्ण तरु - तल।
झिल्लीकी झङ्कारोंसे निशीथिनी थी तन्द्रामग्न।
चन्द्र - कर - छाया स्वच्छ सरमें थी निश्चल-सी।
सो रही थी वायु। ज्योत्स्नालोकमें मसृण स्निग्ध
अन्धकार - राशि और पल्लवोंका भार निज
शीशपर लिये - हुए स्तम्भित था वन - प्रान्त,
उसी भाँति चित्राङ्कित सम्मुख थे खड़े मेरे
हरित भरित दीर्घकाय वनस्पति तुल्य
छाया - सहचर सम दण्डधारी ब्रह्मचारी।

खुलते ही नींद, चारों ओर देख जान पड़ा
कभी किसी विस्मृत प्रदोषके समय मैंने
इहजन्म त्यागकर किसी अपरूप रम्य
मोह-निद्रालोकमें आ स्वप्न - जन्म लाभ किया
जनशून्य म्लान-ज्योत्स्ना वैतरणी नदी - तीर।

उठ खड़ी हो गई मैं। लज्जा औ' सङ्कोच भाव
शिथिल वसन सम गिरे आके पैरों तले।
कानोंने ये सुने शब्द, "प्रिये, मेरी प्रियतमे!"
ज्यों ही पड़ा कानोंमें गभीर यह आवाहन,
मेरी एक देहमें ही सौ - सौ जन्म जाग उठे।
मैंने कहा, "ले लो, ले लो, जो कुछ है मेरा, ले लो,
मेरे प्राणवल्लभ हो तुम्हीं।" मैंने दिये बढ़ा
दोनों बाहु। वनमें उदित चन्द्र हुआ अस्त।
धरा अन्धकारमें निमग्न हुई। स्वर्ग - मर्त्य,
देश - काल, दुःख - सुख, जीवन - मरण सभी
असह पुलकसे थे चेतना - विहीन हुए।

प्रथम किरण हुई प्रातकी उदय जब
और जब पक्षियोंने प्रथम प्रभाती गाई,
धीरेसे मैं उठी, टेक वाम कर बैठ गई
शय्यापर। देखा; सुख - नींद ले रहे थे पार्थ।
छिटकी थी ओठोंपर सुख-श्रान्त हास्य-रेखा,
प्रातकी सुमन्द चन्द्रलेखा सम, रजनीके
आनन्दोपभोगका विशीर्ण अवशिष्ट अंश।
आ पड़ी थी उन्नत ललाटपर अरुणाभा,
मानो मर्त्यलोकमें नवीन उदयाचलसे
नवकीर्ति सहस्रांशु अभी उगा चाहता है।

एक लम्बी साँस लेके उठ पड़ी शय्यासे मैं।
मुँहपर उनके जो आ रही थी रवि - रश्मि
उसे किया आड़में झुकाके सावधानतासे
मालती-लताका जाल। देखा मैंने चारों ओर
वही पूर्व-परिचित पृथिवी प्राचीन रही।
फिर एकाएक सुध अपनी हो आई मुझे।
भाग खड़ी हुई, पारकर तृण - वनस्थली
सद्यच्युत फूल मौलसिरीके थे बिछे जहाँ,
भाग आई निज - छायाभीता हरिणीकी भाँति।
चाहता था चित्त बैठ विजन - वितान तले
हाथोंमें छिपाके मुँह जितना रो पाऊँ रोऊँ,
पर न रुलाई आई।

मदन— हाय, नरनन्दिनी, हा,
स्वर्गसे स्व - करों छीन सुखमय दिन एक
उससे की पूर्ण मैंने धरतीकी रात एक,
ओठोंसे तुम्हारे मैंने लगा दिया पूर्ण पात्र ;

नन्दन - विपिन - पुष्प - गन्धमय मधुमय
रति - ओष्ठ - चुम्बित इन्द्राणीका प्रसादामृत
तुमको कराया पान, तो भी साध रोनेकी है !

चित्राङ्गदा— किसे क्या कराया पान ! किसकी बुझाई प्यास !
चुम्बन वे सानुराग, वे सप्रेम आलिङ्गन
व्यप्त जिन अङ्गोंमें हैं अब भी प्रकम्पमान,
वीणाकी झंकार सम, वे तो नहीं मेरे अङ्ग !
बाद दीर्घ साधनाके एक दण्डको ही हुआ
प्रथम मिलन ; हाय, मधुर मिलन वह
किसने आ लूट लिया, मैं तो रही वञ्चित ही।
परम अलभ्य वह मिलनकी सुख - स्मृति
साथ लिये - दिये झर जायगी अत्यन्त खिली
पुष्प - पंखड़ी-सी माया - सुन्दरता मेरी यह ;
मेरे उर - अन्तरकी रमणी दरिद्र दीन
रिक्त - देह बैठी रह जायगी सदाके लिए।
मीनकेतु, किस महा - राक्षसीको बाँधकर
मेरी अङ्ग - सङ्गिनी है कर रखा छाया सम,
कैसा अभिशाप यह ! सदाके पिपासाकुल
लोलुप ओठोंके पास आया जब चुम्बन था,
उसने ही लिया चाट। वह प्रेममयी दृष्टि
इतनी आग्रहपूर्ण थी कि जिस अङ्गपर
पड़ती थी वहाँ मानो अङ्कित थी कर देती
वासनासे रँगी रेखा। जब रविरश्मि - सम
वह दृष्टि दौड़ी आई चिररात्रि - तपस्विनी
बालिका कुमारीके हृदय - सरसिज ओर
उसे फुसलाके खींचा राक्षसीने निज ओर।

मदन— तब तो निरर्थक ही गई कलवाली रात !

आशा-तरी आ-आके किनारे लौट-लौट गई
खा-खाके तरङ्गाघात ?

चित्राङ्गदा— कल रात कोई बात
जान नहीं पड़ी मुझे। आ गया था स्वर्ग-सुख
इतने समीप कि पा गई या न पाया उसे,
सोच ही न सकी, अत्म-विस्मृतके सुखमें मैं
हुई थी विभोर ऐसी! प्रात उठी जबसे हूं
तबसे निराशाके धिक्कारोंका जो वेग बढ़ा,
भीतर-ही-भीतर हृदय फटा जा रहा है।
एक-एक बात याद रातकी आ रही मुझे।
विद्युत - व्यथाके साथ लौट रही चेतना है।
सौत मेरे भीतर औ' बाहर विराजी आके—
यह कभी भूल नहीं सकती हूं। प्रतिदिन
चावसे सजाके उसे भेजना पड़ेगा अब
अपने आकांक्षा-तीर्थ प्रियके पर्यङ्कपर।
अविश्राम संग रह देखना पड़ेगा मुझे
आँखें खोल प्रतिक्षण सौतका सत्कार! अरे,
देहके सुहागसे अभ्यन्तर जलेगा मेरा
द्वेषकी ज्वालामें! ऐसा शाप और किसे मिला
पृथ्वीपर? हे अनङ्ग, अपना लौटा लो वर।

मदन— वर मैं लौटा लूँ यदि, लुप्त होगा रूप यह।
फिर कल प्रात तुम करोगी जा कैसे भला
अर्जुनसे आँखें चार, पत्र-हीन हिम-शीर्ण
वल्लरी हेमन्तकी ज्यों? मधुर प्रमोदका दे
पथम आस्वाद, फिर उनके ओठोंसे छीन
सुधा-पात्र पृथ्वीपर दे मारोगी तुम यदि,
आकस्मिक चोटसे चिहुँक तुमपर कैसे

क्रोधपूर्ण अग्निमय नयन तरेरेंगे वे !

चित्रांगदा— यह भी अच्छा ही होगा। इस छद्मरूपिणीसे
सौगुनी मैं भली आप। अपने स्वरूपको ही
लाऊँगी प्रकाशमें मैं। जो न उन्हें रुचे वह,
घृणासे जो मुझे छोड़ चले जायें और जो मैं
छाती कूट मरूँ, तो भी मैं जो हूं रहूँगी वही।
इन्द्र-सखा, यह भी अच्छा ही होगा।

वसन्त— देवी, सुनो,
फूलनेका फूलोंके समाप्त जब होता कार्य
फलते हैं तभी फल। आयेगा समय जब,
ताप - तप्त आप झर जायेंगे लावण्य - पुष्प ;
तभी तुम आओगी प्रकाशमें स्व - गौरवसे ;
देख तुम्हें पार्थ निज मानेंगे सौभाग्य नया।
जाओ, वत्से, जाओ, यौवनोत्सव मनाओ अभी।

४

वनमें अर्जुन और चित्राङ्गदा

चित्राङ्गदा— प्रिय, क्या निहार रहे ?

अर्जुन— देख रहा, कैसे तव
कोमल अंगुलियाँ हैं रच रही पुष्प - हार
चुन - चुन पुष्पावली ; चारुता, निपुणता, ये
चञ्चल उल्लास - भरी बहनें दो मानो यहाँ
खेल रहीं समुद अंगुलियोंके आगे - आगे।
देख रहा यही और सोचता हूँ ···

चित्रांगदा— सोचते क्या ?

अर्जुन— सोचता हूं, प्रिये, यों ही सुन्दर करोंसे निज
स्पर्श - रस - सरसित दिन वन - वासके ये
गूंथ - गूंथ अवधिकी माला कर दोगी पूरी।
सिरपर धार वह अक्षय आनन्द - हार
गृह प्रत्यागमन करेंगे हम मोद - भरे।

चित्राङ्गदा— गृह इस प्रेममें है ?

अर्जुन— गृह नहीं ?

चित्रांगदा— नहीं, प्रिय !
ले जाओगे गृह मुझे ? गृहकी न करो बात।
गृह चिरकालका है। नित्य वस्तु जो हो, उसे
गृहमें ले जाना तुम। मैं तो हूं अरण्य-पुष्प।
सूखते ही फेंक दोगे गृहमें अनादरसे
कहीं ईंट - पत्थरोंमें। इससे तो अच्छा होगा,
काननके अन्तःपुर बीच जहां नित्यप्रति
नष्ट होते अंकुर हैं, गिरती है पत्रावली,
झरती है केशर, बिखरते हैं टूट फूल,
जीवन क्षणिक जहाँ एक - एक क्षणपर
बनते - बिगड़ते हैं, — दिन बीतते ही जब
खेल मेरा पूरा होगा, मैं भी इसी काननके
शत - शत क्षणिक समाप्त सुखोंके ही साथ
मुरझाके धूलमें मिलूंगी। फिर कोई खेद
किसीके भी मनमें न होगा कुछ।

अर्जुन— यही बस ?

चित्रांगदा— यही बस। इसमें है दुःख क्यों, हे वीरवर ?
आ गया जो तुमको आलस्यके दिनोंमें यहाँ
उसको आलस्यके दिनों ही में समाप्त करो।
सुखको अवधिसे अधिक एक दण्डको भी

बाँध रखनेसे सुख हो जाता है महादुःख।
जो कुछ है, उसे ले लो, जब तक रहे, रखो।
कामनाके प्रातमें थी चाह तुम्हें जितनेकी
तृप्तिकी सन्ध्यामें मत अधिककी आशा करो।

ढल गया दिन। आओ, माला पहना दूँ तुम्हें।
थक गई हूँ मैं, निज बाहुओंमें मुझे ले लो।
मिल जायँ अधरोंसे अधर, मिलन-सुख
दूर करे मिथ्या असन्तोष। बाहु-बन्धनमें
आओ, हम दोनों एक दूसरेके बन्दी बनें;
प्रणयका सुधामय चिर-पराजय लहें।

अर्जुन— वह सुनो, प्रिये, जनपदमें सुदूर अब
बजने लगे हैं सान्ध्य-आरतीके शान्ति-शङ्ख।

५

मदन और वसन्त

मदन— सखे, मेरे पाँच शर। एकसे मधुर हास्य,
दूसरेसे अश्रुधारा, तीसरेसे मुग्ध आशा,
चौथेसे आतङ्क भय, पाँचवेंसे, हे वसन्त,
विरह-मिलन, भय-आशा, दुःख-सुख सब
एक ही निमिषमें उत्पन्न होते एकसाथ।

वसन्त— श्रान्त हो गया हूं मैं तो, क्षमा चाहता हूं अब।
साङ्ग करो, हे अनङ्ग, निज राग-रङ्ग तुम।
रात-दिन जाग तव ज्वलित हुताशनको
कब तक व्यजन डुलाता रहूँ! रह-रह
झोंके आते नींदके, व्यजन झुक-झुक जाता,

भस्म जम म्लान कर देती तप्त दीप्ति - राशि।
चौंकके मैं जाग जाता, फिर नई साँस फूंक
जगा देता वह्निकी समुज्ज्वल नवीन ज्योति।
अब तो विदा दो, सखे !

मदन— जानता हूँ तुम्हें, मित्र !
तुम चिरशिशु, तुम सदाके अनस्थिर हो,
खेलते द्युलोक औ' भूलोकमें स्वच्छन्द होके।
बहुत समय लगा यत्नसे बनाते जिसे
सुन्दर अतीव, उसे क्षणमें ही फेंक देते
धूलमें, औ' पीछे मुड़ देखते भी नहीं उसे।

अब और देर नहीं, चंचल सुखोंके दिन
देखो, धीरे - धीरे तव व्यजन - बयार खाके
कहाँ उड़े जाते शाखाच्युत पत्रराशि - सम।
हर्षसे अचेत वर्ष आ गया समाप्तिपर।

६

वनमें अर्जुन

अर्जुन— मानो नींद खुलते ही प्रातःकाल पा गया हूँ
स्वप्न-लब्ध रत्न अनमोल। कहां रखूं उसे ?
रखनेका स्थान नहीं पाता हूं धरामें कहीं ;
ऐसा न मुकुट कहीं जिसमें मैं जड़ूं उसे,
ऐसा कोई सूत्र नहीं जिसमें पिरोऊँ उसे ;
फेंक दूँ, अधम नर ऐसा मैं नहीं हूँ ; — अतः
रात - दिन उसे लिये क्षत्रियके बाहुयुग
यहाँ बँधे पड़े हैं कृतित्व - कर्म त्याग निज।

[*चित्राङ्गदाका प्रवेश*]

चित्राङ्गदा— सोच क्या रहे हो, प्रिय ?

अर्जुन— मृगयाकी बात, प्रिये !

वह देखो, वृष्टि - धारा झुकी आती गिरिपर
घनघोर छाया ढके देती वन, निर्झरिणी
झरती अदम्य - गति कलरव - गर्वमयी,
सोपहास करती अवज्ञा तट - गर्जनकी।
याद आता मुझे, ऐसे वर्षाके दिनोंमें हम
पाँचों भाई साथ - साथ मृगयाको जाते रहे
चित्रक - अरण्यमें। बिताते सारा - सारा दिन
आतप - विहीन स्निग्ध घन अन्धकार बीच
बड़े ही उत्साहसे। श्रवण कर मेघ - मन्द्र
नाच - नाच उठते थे हृदय हमारे वहाँ।
उल्लसित मुखरित निर्झरकी कल - कल
और रिमझिम - ध्वनि जलके बरसनेकी
मिलकर ऐसा रव गुञ्जरित करतीं कि
मृगोंको हमारे सावधान पद - शब्द कुछ
सुन ही न पड़ते थे ! पद - नख - चिह्न निज
चित्रव्याघ्र छोड़ जाते वन - पथ - पङ्कपर,
वे ही चिह्न देते रहे उनकी माँदोंका पता।
केका - रव मुग्धकर गूँजता अरण्यमें था।
मृगयासे छूटकर हम पाँचों सङ्गी फिर
पावस - सौभाग्य - गर्व - प्लावित तरङ्गिणीको
बद - बदकर पार करते थे तैर कर।
मनमें है आता ऐसी मृगयाके लिए अब
फिर मैं निकल पड़ूं।

चित्राङ्गदा— हे अहेरी, मृगया जो
तुमने आरम्भ की है, आगे वह शेष हो ले।
अच्छा, तो क्या पूरा-पूरा निश्चय हो गया तुम्हें
यह स्वर्ण-मायामृगी पकड़में आ गई है?
नहीं नहीं, कभी नहीं। यह वन्य हरिणी तो
पकड़के अपनेको आप रख सकती न,
कौन जाने, स्वप्न-सी हठात् कब भाग जाय।
नहीं कर सकती है वहन कदापि यह
क्षणिका क्रीड़ाके साथ सर्वदाके बन्धनको।

वह देखो, मेघ और पवनमें कैसी क्रीड़ा
हो रही है! श्याम मेघ यद्यपि प्रत्येक क्षण
शत-शत शर-वृष्टि करता पवनपर,
फिर भी दुरन्त मदोन्मत्त हो पवन-मृगी
डोल रही अक्षत अजेय सम। उसी भाँति
मेरी भी तुम्हारे साथ हो रही है क्रीड़ा, नाथ,
करो प्राणपणसे आखेट इस चञ्चलाका
वर्षाके दिवस आज, जितने तुम्हारे पास
अस्त्र होवें, जितने भी तूणमें हों वाण, उन्हें
एकनिष्ठ आग्रहसे बरसा दो मुझपर।
कभी अन्धकार, कभी सहसा प्रकाश-रेखा
दमकके, हँसके विलीन होती। कभी स्निग्ध
वर्षाकी है झड़ी, कभी दीप्तिमयी वज्र-ज्वाला।
मेघाच्छन्न जगत्में मायामृगी डोल रही
सर्वदा स्वच्छन्द और सर्वदा ही बाधा-हीन।

७

वनमें मदन और चित्राङ्गदा

चित्रांगदा— हे मन्मथ, मेरी सारी देहमें विलेप दिया
तुमने क्या-जाने क्या ! सुतीव्र मदिराकी भाँति
रुधिरमें मिल किया उसने उन्मत्त मुझे।
निज गति - गर्वसे प्रमत्त मृगी - जैसी मैं तो
डोलती हूं मुक्तकेश उच्छ्वसित वेश किये
पृथिवीकी सीमा लाँघ। धनुर्धर घनश्याम
व्याध मेरा,— कर रखा उसे मैंने परिश्रान्त
और आशाहत-प्राय। वन - वन राह - राह
उसे नचा रही नाच। निष्ठुर विजयिनी मैं
कौतुककी हँसी हँसा करती हूं हर्षित हो।
भङ्ग इस खेलको मैं करनेसे डरती हूं।
क्षणको भी रुकनेसे खेल, भर क्रन्दनसे
उर हो विदीर्ण कहीं !

मदन— खेल मत भङ्ग करो।
खेले जाओ इसे, भद्रे ! मेरा रचा खेल यह।
छूट - छूट बिंधें बाण, टूट - टूट गिरे उर।
आज नववर्षामें है वनमें आखेट मेरा।
शुभे, उस हरिणको श्रान्त करो, क्लान्त करो,
पैरोंमें झुकाओ उसे, बाँधो दृढ़ बन्धनमें,
दया न दिखाओ, हँस - हँस जर्जरित करो,
सुधा - विष - सने वाक्य - बाण मारो हृदयमें।
यह है आखेट, यहाँ दयाका विधान नहीं।

८

वनमें अर्जुन और चित्राङ्गदा

अर्जुन— प्रिये, क्या तुम्हारा कोई गृह नहीं ऐसा जहाँ
तव प्रिय परिजन विकल वियोगमें हों ?
जो आनन्दपुरी निज स्नेह - सेवा - सुधा - मग्न
बना रखी तुमने हो, दीप जिस मन्दिरका
बुझाके पधारीं तुम इस रम्य काननमें ?
शैशवकी मधुमय स्मृति तव जिस ठौर
दौड़ती हो रोनेको, क्या ऐसा कोई स्थान नहीं ?

चित्राङ्गदा— प्रश्न यह क्यों ? तो क्या आनन्द अब जाता रहा ?
दीखती जो, वह हूं मैं, परिचय और कुछ
मेरा नहीं। प्रातःकाल किंशुकके पल्लवके
कोनेपर एक बूंद ओस जो थिरकती है
उसका क्या होता कोई नाम-धाम ? उससे भी
पूछता क्या कोई, 'बता तेरा क्या है परिचय ?'
जिसे किया तुमने है प्यार, तुम उसे जानो
नाम - धाम - हीन एक ओसकी ऐसी ही बूँद।

अर्जुन— उसका क्या कोई नहीं बन्धन है पृथिवीमें ?
एक बिन्दु स्वर्ग बस भूलसे टपक पड़ा
भूतलमें ?

चित्राङ्गदा— ऐसा ही है। बस क्षण-भरको ही
उसने प्रदान की है अपनी समुज्ज्वलता
इस वन - कुसुमको।

अर्जुन— इसीसे तो प्राण सदा
रहते सशङ्क, — इसे अब खोया, तब खोया।
अतः तृप्ति होती नहीं, मिलती है शान्ति नहीं।

हे दुर्लभे, और भी समीप आओ। नाम-धाम,
गोत्र - गृह, वाक्य - देह - मनसे सहस्र रूप
बन्धनोंके जालमें आ जाओ, प्रिये! स्पर्श करूँ
तुम्हें चारों ओरसे मैं घेरकर। तुमपर
निर्भर निःशङ्क रहूँ। नाम नहीं? फिर तुम्हें
किस प्रेम - मन्त्रसे मैं जपूं मनोमन्दिरमें?
गोत्र नहीं? कौन-से मृणालसे मैं गहे रहूं
इस खिले पङ्कजको?

चित्राङ्गदा— नहीं, नहीं, नहीं। जिसे
चाहते हो बाँधना, है बन्धन अज्ञात उसे।
उसे तुम समझ लो मेघकी सुवर्ण - छटा,
सुमनकी गन्ध और नदीकी तरङ्ग - गति।

अर्जुन— ऐसीको जो प्यार करे, वह है अभागा नर।
प्रेमके न हाथमें दो गगन - कुसुम, प्रिये!
उसको दो हृदयमें रखनेकी वही निधि
सुख - दुख, सुदिन - कुदिनमें जो बनी रहे।

चित्राङ्गदा— वर्ष भी न बीता अभी, इसी बीच ऊब गये?
हाय, अब समझी अल्पायु होना पुष्पका है
देवताका आशीर्वाद! विगत वसन्तके ही
मृत कुसुमोंके साथ झर यदि जाता यह
मोहक शरीर भी, तो आदरसे मर पाता।
जादा दिन नहीं, पार्थ! बाकी हैं थोड़े ही दिन।
इन्हीं थोड़े दिनोंमें मिटा लो अरमान जीके,
पी लो, पी लो, प्यालेमें जो बचा है आनन्द-मधु,
इन्हीं थोड़े दिनोंमें निःशेष कर डालो उसे।
बादको, हे प्रियतम, स्मृति - मायाजाल - वश
बार - बार इस ठौर चक्कर लगाना मत।

होवेगी निराशा उसी तृष्णातुर भृङ्गकी-सी
कल सायंकाल जो पतित-वृन्त माधवीको
पानेकी आशामें यहाँ रो-रो मँडराता रहा।

९

वनचरगण और अर्जुन

वनचरगण— हाय, कौन हमको बचाये अब ?

अर्जुन— हुआ क्या है ?

वनचर— जनपद-ध्वंस हेतु उत्तरके पर्वतसे
दस्युदल पर्वतीय सरिताकी वन्या सम
अतिशय वेगसे इधर बढ़ा आ रहा है।

अर्जुन— रक्षक क्या नहीं इस राज्यका है कोई यहाँ ?

वनचर— दुष्टदल दमन सदैव किया करती थीं
राजकन्या चित्राङ्गदा। उनका आतङ्क था कि
यम-भय छोड़कर राज्यमें कहीं भी कोई
भय न था। सुना है कि गई हैं तीर्थाटनको,
ज्ञात न भ्रमण-व्रत।

अर्जुन— इस सारे राज्यकी क्या
रक्षक हैं रमणी ?

वनचर— हाँ, एक ही शरीरसे वे
निज भक्त प्रजाकी हैं माता और पिता भी हैं।
स्नेहमें वे राजमाता, शूरतामें युवराज।

[वनचरोंका प्रस्थान : चित्राङ्गदाका प्रवेश]

चित्राङ्गदा— सोच क्या रहे हो, नाथ ?

अर्जुन— सोचता हूं, कैसी होगी

राजकन्या चित्राङ्गदा ! शत - शत मुखोंसे मैं
प्रति दिन सुनता हूं उसकी अनूठी बातें,
एकसे नवीन एक उसकी अपूर्व कथा।

चित्राङ्गदा— बड़ी भोंडी सूरत है। ऐसी बाँकी भौंहें नहीं,
मेरे जैसी काली-काली पुतली न आँखोंकी हैं।
कड़ी पोढ़ी बाँहोंने है लक्ष्य बेधना ही सीखा ;
बाँधना न आता उन्हें वीरका शरीर-मन
ऐसे मृदु मञ्जु नागपाशमें।

अर्जुन— परन्तु सुना,
स्नेहमें है नारी, तो है शौर्यमें पुरुष वह !

चित्राङ्गदा— छिः छिः, अरे, यही तो है उसका दुर्भाग्य बड़ा !
नारी यदि नारी ही हो, केवल हो धरा-शोभा,
केवल आलोक हो जो, केवल हो प्रेम-प्रीति,
सुमधुर छलमयी शत दृष्टि-भङ्गिमासे
कभी रूठकर, कभी रोषसे तिनककर,
पैरोंपर लोट कभी, गलेसे लिपट कभी,
मचल ठिनक कभी, बाहुओंमें घेर कभी,
कभी हँस, कभी रोके, कभी इठलाती हुई,
सेवा और प्यारकी सुस्निग्ध छाया छाती हुई,
मुँह जोहा करे सदा, तो है सार्थ नारी-जन्म।
किस काम आनेकी है नारीकी सुकर्म-कीर्ति,
शौर्य-वीर्य, शिक्षा-दीक्षा ? देखते, हे पौरव, जो
कल तुम उसे कहीं इस वन - पथपर
इस पूर्णा - तीरपर, उस देव - मन्दिरमें,
तो अवश्य घृणासे विहँसकर चले जाते।
हाय, आज इतनी क्यों हो गई अरुचि तुम्हें
नारीके सौन्दर्यसे कि नारीमें हो खोज रहे

पौरुषका स्वाद तुम ?

आओ, नाथ, देखो वह
घनी छायावाली उस गुफाके मुहानेपर
दिनके विश्राम हेतु मैंने है सजाई सेज
चुन - चुन पीत श्याम कोंपलें मृदुल मंजु
सींच - सींच निर्भरके उच्छ्वसित शीकरोंसे।
बैठे घने पल्लवोंकी छायामें कपोत, देखो,
रोते क्लान्त कण्ठसे हैं, 'देर होती, देर होती !'
तरुओंके छाया - तले कल - कल - नादमयी
बही चली जाती नदी। शिला-स्तरों बीच उगे
सरस सुस्निग्ध सिक्त श्यामल शैवाल - पुञ्ज
शुचि मृदु अधरोंसे दृष्टिको हैं चूम रहे।
कैसा है विश्रामका अनूठा ठौर, आओ, नाथ !

अर्जुन— नहीं, आज नहीं, प्रिये !

चित्राङ्गदा— नहीं क्यों ?

अर्जुन— है सुना मैंने,
जनपद - ध्वंस हेतु दस्यु चढ़े आ रहे हैं।
करूँगा मैं रक्षा भीत जनोंकी।

चित्राङ्गदा— हे नाथ, नहीं
डरकी है बात कोई। राजकन्या चित्राङ्गदा
प्रहरी सतर्क दिशा-दिशामें नियुक्त कर
गई तीर्थ-भ्रमणको ; विपदाके मार्ग सारे
बन्द कर गई है सतर्कतासे।

अर्जुन— तो भी, प्रिये,
चाहता हूं आज्ञा स्वल्प कालकी ही, कर आऊँ
अपना कर्तव्य - कर्म। क्षत्रियके बाहु, प्रिये,
अलस हो रहे बहु कालसे ही। हे मध्यमे,
क्षीणकीर्ति इन दोनों बाहुओंमें पुनर्वार

गौरव नवीन भर लाऊँगा मैं, तब फिर
इनपर शीश रख करना शयन तुम,
योग्य उपाधान ये तुम्हारे होंगे।

चित्राङ्गदा — नाथ यदि
जाने न दूं तुम्हें, यदि बांध रखूं? अच्छा तो क्या
बन्धन तुड़ाके चले जाओगे? तो जाओ फिर।
किन्तु याद रहे, लता एक बार टूटकर
फिर नहीं जुड़ती है। यदि तृप्ति हो गई है,
चले जाओ, मना नहीं करूँगी मैं। किन्तु यदि
तृप्त नहीं हुए हो, तो याद रखो, सुख-लक्ष्मी
चञ्चला है, बैठी नहीं रहती किसीके लिए।
वह नहीं किसीकी है सेवा-दासी, उसकी ही
सेवा किया करते हैं उससे ही नारी - नर,
रखते हैं रात - दिन उसे सिर - आँखोंपर
जब तक रहती प्रसन्न वह। चल दोगे
जिसे छोड़ सुखकी प्रत्यक्ष कली, उसे फिर
लौट कर्मक्षेत्रसे दिनान्तपर देख लेना, —
झरके पँखुड़ियाँ हैं गिर गईं धूलपर।
व्यर्थ तब लगेगा कर्तव्य - कर्म। जीवनमें
तृषा औ' अतृप्ति बनी रहेगी ज्वलन्त सदा।
आओ बैठो, नाथ, आज ऐसे अनमने क्यों हो!
किसकी विचार रहे बात? क्या चित्राङ्गदाकी?
ऐसे आज उसके क्यों जागे भाग?

अर्जुन— सोचता हूं,
हेतु क्या, वीराङ्गनाने दुष्कर दुरूह व्रत
धारण है किया ऐसा? काहेका अभाव उसे?

चित्राङ्गदा— काहेका अभाव! पास था ही क्या अभागिनीके?

अभ्रभेदी दुर्गम सुदुर्ग - सा प्रचण्ड शौर्य
उसका चतुर्दिकसे रुद्ध किये - हुए रहा
विवश रोरुद्यमान रमणी - हृदय मंजु।
रमणी स्वभावसे अभ्यन्तर - निवासिनी है,
रखती है अपनेमें आपको छिपाये - हुए।
कौन देख पाये उसे, उर - प्रतिबिम्ब चारु
देहकी सुन्दरतामें पाये न प्रकाश यदि।
काहेका अभाव उसे! अरुण - लावण्यलेखा
जिसकी निर्वापित हो, ऐसी ऊषा सदृश जो
अपने ही अधाधुन्ध घोर अन्धकार - तले
शौर्य - शैल - शृङ्गपर बैठी रहे एकाकिनी,
काहेका अभाव उसे! छोड़ो, छोड़ो बात यह ;
पुरुषोंके लिए नहीं श्रवण - सुखद होगी
उसकी कहानी यह।

अर्जुन— कहो, कहो, रुको मत।
सुननेकी लालसा है तीव्रतर होती जाती।
उसके हृदयको मैं अपने हृदयमें ही
अनुभव कर रहा। लगता है, पान्थ हूं मैं ;
मानो आधी रातको प्रवेश किया मैंने किसी
अपरूप देशमें। सरित गिरि वन भूमि
निद्रामें निमग्न वहाँ। शुभ्र सौध - किरीटिनी
नगरी उदार छाया - सम अर्ध - परिस्फुट
दीख रही, गर्जन समुद्रका सुनाई देता।
प्रातका प्रकाश पाके प्रस्फुटित होंगे मानो
परम आश्चर्यकारी दृश्य चारों ओर वहाँ।
उसीकी प्रतीक्षा मानो करता हूँ उत्सुक हो।
कहो, कहो, उसकी मैं सुनूंगा कहानी आज।

चित्रांगदा— सुननेको बाकी क्या है ?

अर्जुन— उसे देख रहा हूं मैं,–
घोड़ेपर चढ़ी, वाम करमें लगाम लिये
सहज ही, दक्षिणमें लिये-हुए धनुर्वाण,
हरी - भरी नगरीकी विजय - लक्ष्मीके सम
वराभय दान कर रही आर्त प्रजाको है।
दीन - दुखी जनोंके संकीर्ण द्वारपर, जहाँ
करके प्रवेश नत महिमा नृपोंकी होती,
वहाँ मातृ-रूप धर करती वितीर्ण दया।
सिंहिनी समान चारों ओर निज वत्सोंपर
रखती सतर्क दृष्टि। भयसे थर्राते शत्रु,
आते हैं समीप नहीं। फिरती स्वच्छन्द वह
मुक्तलज्जा मुक्तभय सुप्रसन्न हास्यमयी,
शौर्य-सिंह - पीठ चढ़ी जगद्धात्री दयामूर्ति।
रमणीकी कमनीय दोनों बाहोंपर वह
असङ्कोच मुक्त शौर्य! उसके समीप हेय
मृदु मञ्जु मुखरित कङ्कण किंकिणी सदा।
बहुत दिनोंसे मेरे प्राण, अयि वरारोहे,
विरत हो कर्मसे अशान्त हो उठे हैं अब,
दीर्घशीत-सुप्तोत्थित जाग्रत भुजङ्ग - सम।
आओ, हम दोनों चढ़ दो मस्ताने घोड़ोंपर
एकसाथ दौड़ पड़ें, महा वेगवान् दीप्त
दो ज्योतिष्क-पिण्ड सम। बाहर निकल चलें
इस अवरुद्ध वायु - मण्डलसे, इस तिक्त
पुष्पगन्ध - मदिरा - विभोर घोर निद्रा - मत्त
काननके बद्ध अन्ध गर्भसे।

चित्राङ्गदा— हे पार्थ, सोचो,
यदि मैं, लालित्य यह, भीरुता मृदुल यह,

स्पर्श - क्लेश - कातर शिरीष - मृदु रूप यह
तनसे उतारकर घृणासे दूं फेंक अभी
मँगनीके वस्त्र जैसा, तो क्या यह हानि तुम्हें
सह्य होगी? कामिनीके छल-बल माया-मंत्र
त्याग उठ खड़ी होऊँ हृदयके बलसे मैं
सरल समुन्नत औ' शौर्यमन्त बनकर,
पर्वतके तेजस्वी तरुण तरुवर सम,
(जो हो हरा-भरा, झुके वायुके झकोरे खाके,
किन्तु लतिका-सा नहीं कुण्ठित भू-लुण्ठित हो)
पुरुषकी आँखको सुहायेगा क्या ऐसा रूप?
रहने दो, रहने दो, उससे मैं यों ही भली।
यौवन अमूल्य धन दो दिनका अपना है।
यत्नसे सजाके इसे ताकती रहूंगी राह।
अवसरपर जब आनेकी करोगे कृपा,
तनके प्यालेमें लबालब भर निज सुधा
तुमको पिलाऊँगी मैं। सुख-स्वाद लेते-हुए
होगी जब श्रान्ति, चले जाना कर्म-क्षेत्रपर।
हो जाऊँगी जब मैं पुरानी, जहाँ स्थान दोगे
वहीं एक ओर पड़ी रहूंगी मैं। यामिनीकी
केलि-सङ्गिनी हो कर्म-सङ्गिनी जो दिनकी भी,
बाँएँ हाथ-सी जो सदा सर्वदा तयार रहे
दाहनेकी सेवा हेतु, वीरके प्राणोंको तो क्या
भायेगी कदापि वह?

अर्जुन— हे प्रिये, रहस्य तव
समझमें आता नहीं। इतने दिनोंका साथ,
फिर भी तुम्हारा भेद पाया नहीं अब तक!
गुप्त रहकर तुम करती आई हो मानो

वंचित सदा ही मुझे। मानो तुम देवी कोई,
रहकर प्रतिमाकी ओटमें देती हो मुझे
चुम्बन-से रत्न औ' आलिंगन-सी दिव्य सुधा ;
स्वयमेव कुछ भी न चाहती न पाती ही हो।
अङ्गहीन छन्दहीन प्रेम उर - अन्तरमें
प्रतिक्षण जागरित करता है पश्चात्ताप।
रह - रहकर बात - बातमें, हे तेजस्विनी,
मिलता है मुझको तुम्हारा दिव्य परिचय।
उसके समक्ष यह रूप औ' सौन्दर्य - राशि
जान पड़ती है बस मृत्तिकाकी मूर्ति मात्र,
चतुर चितेरेकी सुचित्रित यवनिका - सी।
कभी - कभी लगता, तुम्हारा रूप तुम्हें अब
धारण न कर पाता, थरथर काँपता है।
उज्ज्वल हँसीमें छिपे करते हैं अश्रु वास ;
छलछला आते अश्रु कभी-कभी ऐसे मानो
परदेको फाड़कर बरस पड़ेंगे अभी।
साधकके पास आती पहले तो भ्रान्ति धर
मोहिनी मायाका वेश, होता है उदय फिर
भीतर औ' बाहर उजाला कर देनेवाला
भूषाहीन नग्न सत्य। तुममें विराजता है
कहाँ वह सत्य, दे दो, वही सत्य चाहता हूं।
मुझमें जो सत्य है, सहर्ष तुम उसे ले लो।
ऐसा ही मिलन होगा श्रान्तिहीन चिरस्थायी।
आँखोंमें क्यों आँसू, प्रिये ? हाथोंमें छिपाके मुँह
व्याकुल क्यों हो रही हो ? वेदना दी मैंने तुम्हें ?
जाने दो, जाने दो, उस बातको ही, प्रियतमे !
मनोहारी रूप ही तुम्हारा, पुण्यफल मेरा।

यह बीच-बीचमें जो वासन्ती समीरणमें
यौवनकी यमुनाके पारसे सङ्गीत-सुधा
कर्ण-कुहरोंमें आती,– यही है सौभाग्य मेरा।
मेरी यही वेदना है सुखसे अधिक सुख,
आशासे अधिक आशा, हृदयसे कहीं बड़ी,
इसीलिए हृदयकी व्यथा-सी प्रतीत होती।

१०

मदन, वसन्त और चित्राङ्गदा

मदन— आज ही है शेष रात्रि।

वसन्त— आज रात बीतते ही
अक्षय भण्डारमें वसन्तके जा लीन होगी
अङ्गोंकी तुम्हारे शोभा। पार्थकी चुम्बन-स्मृति
भूल, तव ओष्ठ-राग किसी किसलयमें जा
धारण करेगा रूप मृदु मञ्जु मञ्जरीका।
तव गौरकान्ति शत-शत श्वेत सुमनोंकी
नई देह धारण करेगी, नव जागृतिमें
त्याग देगी स्वप्न-सम निज पूर्वजन्म-कथा।

चित्राङ्गदा— हे अनङ्ग, हे वसन्त, आज रजनीके लिए
मेरा म्रियमाण रूप शेष-प्राय रजनीके
श्रान्त-क्लान्त दीपककी अन्तिम शिखाकी भाँति
सहसा हो उठे दीप्तिमान औ' उज्ज्वलतम।

मदन— ऐसा ही हो। हे सखे वसन्त, आज बहा देना
दक्षिण समीरणको प्राण-पूर्ण वेगसे ही।
यौवनका क्लान्त मन्द स्रोत नवोल्लास पाके
फिर एक बार अङ्ग-अङ्गमें हो उच्छ्वसित।
पाँचों पुष्प-शरोंसे मैं सुप्त अर्द्ध रजनीका

निद्रा - जाल तोड़ दूंगा, भोगवती - तटिनीमें
उठाके तरङ्गोच्छ्वास प्लावित मैं कर दूंगा
बाहुपाश - बन्दी युग प्रेमियोंके युग तनु।

११

शेष रात्रि

अर्जुन और चित्राङ्गदा

चित्राङ्गदा— नाथ, मिट गई साध? मेरी इस सुललित
सुगठित नवनीत - मृदु कान्त सुछबिमें
जितनी सुगन्ध और जितना था मधु भरा,
उसे कर चुके पान? और भी है बाकी कुछ?
चाहते हो और भी क्या? मेरे पास जो कुछ था,
सभी क्या समाप्त हुआ? नहीं, अभी नहीं हुआ।
भला हो या बुरा हो, है किन्तु अभी बाकी कुछ,
उसे भी दे दूंगी आज।

रुचिकर हुई तुम्हें,
इसीसे, हे प्रियतम, बहु साधनाओंसे ला
नन्दन - विपिनसे सौन्दर्य - पुष्पराशि यह
चरण - कमलमें तुम्हारे मैंने अर्पण की।
यदि साङ्ग हुई पूजा तो मुझे दो आज्ञा, प्रभु,
मन्दिरके बाहर निर्माल्यकी दूं डाली फेंक।
अब इस दासीपर दृष्टि हो प्रसन्नताकी।
पूजा जिन पुष्पोंसे की, नहीं उन पुष्पों-सी हूँ,
वैसी नहीं मधुर हूं, वैसी नहीं कोमल हूँ,
प्रभु, वैसी पूर्णतः सुन्दर भी नहीं हूँ मैं।
मुझमें हैं दोष - गुण, मुझमें हैं पाप - पुण्य,
कितना है दैन्य और कितनी अतृप्त तृषा

मुझमें आजन्मकी है। भव - पथ - पथिक हूँ,
धूलि - लिप्त वस्त्र मेरे, विक्षत चरण मेरे।
कहाँ पाऊँ कुसुम-लावण्य, हाय, कहाँ पाऊँ
दो घड़ीके जीवनकी चिर - अकलङ्क शोभा ?
किन्तु बसा मुझमें है अक्षय अमर स्निग्ध
रमणी-हृदय एक। दुःख-सुख आशा-भय
लज्जा औ' दौर्बल्य-भरी धूलिमयी धरणीकी
गोदकी सन्तान है जो, उसके हृदय बसी
कितनी ही भ्रान्ति, व्यथा, प्रेम-प्रीति और पीड़ा
एकसाथ मिल - जुल गुँथ गईं आपसमें।
मुझमें है अतः एक सीमाहीन अन्तहीन
महती अपूर्णता ही। यदि इस कुसुमकी
सुरभि विलीन हुई, तो हे प्रिय, एक बार
दृष्टि करो इस जन्म-जन्मकी दासीकी ओर।

[सूर्योदय]

चित्रांगदा— (अवगुण्ठन खोलकर)
कौन हूँ मैं ! मैं राजेन्द्र-नन्दिनी चित्राङ्गदा हूं।
सम्भवतः याद होगा तुम्हें वह एक दिन
जब उस सरसीके तीर शिव - मन्दिरमें
दीखी तुम्हें नारी एक, जिसने आभूषणोंके
भारसे था दबा रखा निज रूपहीन तनु।
लज्जाहीना मुखराने कहा था न-जाने क्या-क्या,
पुरुषकी प्रथासे आराधना की पुरुषकी,
उसका इसीसे किया तुमने था प्रत्याख्यान।
ठीक ही किया था यह। यदि कहीं तुम उसे
कर लेते ग्रहण सामान्य नारी - रूपमें ही,
आमरण पश्चात्ताप बींधता उसीका उर।

प्रभु, वही नारी हूँ मैं। तो भी वही नारी नहीं,
वह तो था अतिशय हीन छद्म-वेश मेरा।
फिर वरदानमें वसन्तसे था पाया मैंने
एक वर्ष काल - व्यापी दिव्य अपरूप रूप।
मैंने छल-भारसे ही किया पार्थ-उर श्रान्त।
वह नारी भी हूं नहीं।
बस मैं चित्राङ्गदा हूं।
देवी नहीं, और नहीं साधारण रमणी हूं;
पूज मुझे शीशपै चढ़ा लो, मैं हूं ऐसी नहीं;
करके अवज्ञा मेरी पालतू बना लो मुझे,
ऐसी भी मैं नारी नहीं। यदि मुझे साथ रखो
सङ्कटोंके पथोंमें, दुरूह चिन्ताओंका भार
कुछ-कुछ मुझे भी दो, यदि मुझे आज्ञा दो कि
कठिन व्रतोंमें मैं सहायता तुम्हारी करूँ,
यदि सुख - दुःखमें बना लो सहचरी मुझे,
तभी तुम्हें मिलेगा यथार्थ मेरा परिचय।
गर्भमें जो मेरे है सन्तान तव, वह यदि
पुत्र हुआ, शैशवसे वीरताकी शिक्षा देके
उसे बना दूँगी मैं द्वितीय पार्थ। फिर उसे
एक दिन भेज दूँगी पिताके पदोंमें जब,
तभी तुम मुझे पहचानोगे, हे प्रियतम!

पदोंमें निवेदन है आज, मैं चित्राङ्गदा हूं;
मैं राजेन्द्र-नन्दिनी हूं।

अर्जुन— प्रिये, आज धन्य हूं मैं।

बंगला - रचना : भाद्र १९४८
हिन्दी-अनुवाद : पौष २००८

परिशोध

[महावस्त्ववदान]

"चोरी राजकोषसे ! कहाँ है चोर, खोज लाओ,
नहीं तो, नगरपाल, इतना समझ जाओ,
कुशल तुम्हारी नहीं, मुण्डहीन होगा रुण्ड !"
राजाके आदेशसे नगर - रक्षियोंके झुण्ड
लगे चोर खोजने जा राह-राह घर-घर।
पुरके बाहर एक मन्दिर था खंडहर ;
सो रहे थे वहाँ वज्रसेन तक्षशिला-वासी ;
वणिक विदेशी पान्थ थे वे। आये रहे काशी
अश्व बेचनेके लिए। दस्युओंके हाथों खोके
सर्वस, वे देश लौट रहे थे निराश होके।
चोर जान रक्षियोंने उनको पकड़ लिया,
लोहेकी जंजीरों-द्वारा कसकर बाँध दिया,
और ले चले वे उन्हें बन्दीगृह।

उसी क्षण

पुरीकी सुन्दरी - श्रेष्ठ श्यामा अलसाये - तन
खिड़कीमें बैठी - हुई समय बिताती रही,
पथके प्रवाहपर दृष्टिको दौड़ाती रही ;
जन-सिन्धु स्वप्न सम नयनोंके आगे रहा।
सहसा सिहर श्यामा बोली, "बलि जाऊँ, अहा !
महेन्द्र - निन्दित - कान्ति उज्ज्वल - दर्शन ऐसे
युवाको ला रहे कसे सीकड़ोंसे चोर - जैसे !
सहचरी, दौड़ जा तू, कर मेरा एक काम,
जाके पुरपालसे यों बोल लेके मेरा नाम,
"श्यामा तुम्हें बुला रही निज दीन गृहपर,

बन्दीको भी साथ लिये । चले चलो कृपाकर ।"
श्यामा - नाम - मंत्रसे नगर - रक्षी सम्मोहित
सुनते ही आमन्त्रण पुलकित रोमाञ्चित
गृहमें प्रविष्ट हुआ ; बन्दी वज्रसेन फिर
आरक्त - कपोल और लज्जा - अवनत - शिर
आये पीछे-पीछे। बोला रक्षी तब हँसकर,
"असमय अयाचित कृपा इस दीनपर
कैसे हुई ? मैं तो राजकार्यसे हूं जाता अभी।
आज्ञा हो, हे सुदर्शने, आऊँगा मैं फिर कभी।"
नत शिर उठा वज्रसेन बोले, "हे सुन्दरी,
कैसी है तुम्हारी यह लीला उपहास-भरी!
दुखी अपमानसे प्रवासी मैं निरपराध।
पथसे बुलाके मुझे कौन-सी कौतुक-साध
पूरी करनेको अपमान मेरा कर रहीं ?"
श्यामा बोली, "हाय, पान्थ, कौतुक है यह नहीं।
देके निज अङ्गोंके समस्त स्वर्ण - अलङ्कार
उद्यत हूं लेनेको तुम्हारे ये शृङ्खल - हार।
हुआ जो तुम्हारा अपमान आज निन्दनीय,
मेरी आत्मा मानती है उसे अपमान स्वीय।"
आँसुओंसे भीग गये श्यामाके नयन - कोर।
श्यामाने उन्हींसे धोईं मानो लाञ्छनाएँ घोर
पथिकके मानसकी। प्रहरीसे बोली, "ले लो
जो - कुछ है मेरे पास, बदलेमें मुक्ति दे दो
बन्दीको ; निर्दोष यह सर्वथा है।" बोला वह,
"विवश हूं, है अमान्य विनय तुम्हारी यह।
कार्य है असाध्य यह। हृत हुआ राजकोष ;
बिना लिये प्राण किसी मानवका राज-रोष

शान्त नहीं होनेका है।" प्रहरीका हाथ थाम
बोली श्यामा, "विनती है, इतना ही करो काम,
बन्दीके बचाये रहो प्राण बस दो ही रात।"
बोला वह, "यथासाध्य रखूंगा तुम्हारी बात।"

दूसरी निशाकी शेष घड़ियोंमें बन्दीशाला
खोलकर हाथमें प्रदीप लिये-हुई बाला
कक्षमें प्रविष्ट हुई, शृङ्खलासे बाँध जहाँ
रखा वज्रसेनको था। वे निरीह बैठे वहाँ
मृत्युके प्रभातकी प्रतीक्षा किये चुपचाप
आँखें मींचे करते थे इष्टदेव-नाम जाप।
उसी क्षण रमणीने आँखसे संकेत किया,
प्रहरीने आ तुरन्त बन्धनोंको खोल दिया।
विस्मित दृगोंसे देखा बन्दीने कि दर्शनीय
अपरूप कोमल कमल-शुभ्र कमनीय
वही मुखमण्डल है! खुला रुद्ध कण्ठस्वर,
"विषम विकारकी विभीषिकाकी रात्रिपर
कौन तुम कर-धृत शुक्रतारा ऊषा सम
उदय हुई हो इस कारा-कक्ष मध्य मम
मरते-हुएकी प्राणरूपा मुक्तिरूपा अयि,
निर्दयपुरीमें लक्ष्मी कौन तुम दयामयि!"

"मैं हूं दयामयी!" उच्चहास्य हुआ गुञ्जरित।
नूतन सन्त्राससे था चौंक हुआ जागरित
भीतिप्रद कारागार। रमणीका उच्चतर
उत्कट उन्मत्त हास्य शतधा बिखरकर
अश्रुमें बदल गया। बोली वह रो-रोकर,
"जितने पाषाण बिछे नगरीके मार्गपर

उनमें है नहीं कोई श्यामासे कठोरतर।”
हाथ वज्रसेनका सुदृढ़तासे गहकर
उन्हें साथ लिये - हुई कारासे निकल गई।

वरुणाके पूर्व - तीर काननमें प्रभामयी
ऊषा जाग उठी थी। थी बँधी नौका घाटपर।
सुन्दरीने “आओ, हे विदेशी, आओ” कहकर
उनको चढ़ाया, आप चढ़ी, फिर बोली वह,
“रखना, हे मेरे प्रिय, याद मेरी बात यह,
तोड़ सब बन्धनोंको आज मैं तुम्हारे साथ
बहने चली हूं एक स्रोतमें, हे प्राणनाथ,
जीवन-मरण-प्रभु!” उसने दी नौका खोल।
हर्षोत्सव-मग्न विहगावली थी रही बोल
वनोंमें उभय तीर। युवा दोनों करों धर
प्रेयसीका मञ्जु मुख, खींच उसे वक्षपर
बोले कि ‘बताओ प्रिये, कौन-सी लगाके युक्ति,
कितनी सम्पत्ति देके मुझको दिलाई मुक्ति,
कितनेका ऋण है तुम्हारा इस दीनपर?
जानना मैं चाहता हूं, कहो तुम खोलकर।’
सुन्दरीने कहा निज आलिङ्गन दृढ़ कर,
“अभी यह कहनेका, प्रिय, नहीं अवसर।”

प्रखर था स्रोत और वायु थी प्रबल अति,
नौका चली जा रही थी अतिशय तीव्रगति।
था प्रचण्ड सूर्य तब नभ - मध्यभागपर।
ग्राम-वधूजन स्नान - ध्यान समापन कर
आर्द्र वस्त्र धारे, लिये कलशोंमें गङ्गाजल,
घर लौट गईं थीं। प्रभात - कर्म - कोलाहल

शान्त हो गया था। हाट उठ गई प्रातकी थी।
दोनों तीर ग्रामोंकी थी पान्थ-शून्य बाट-वीथी।
बट - तले घाट था पाषाण-खण्ड-विरचित ;
नाविकने नौका वहीं बाँधी स्नानाहार - हित।
तन्द्रा-घन बटकी शाखाओंपर शान्तिलीन
छायामग्न थे विहङ्ग - नीड़ गीतशब्द-हीन।
केवल पतङ्ग - पुञ्ज गूंजता आलस्य - भरा
उस दीर्घ दिवसमें। पक्वशस्य - गन्धहरा
वायु थी दुपहरीकी। उसके झोंकेसे ज्यों ही
शीश-पट श्यामाका खिसक गिर गया, त्यों ही
परिपूर्ण प्रणयकी वेदनासे धैर्य खोके
व्याकुल व्यथित - वक्ष रुद्धप्राय - कण्ठ होके
वज्रसेन कानमें श्यामाके बोले झुककर,
"क्षणस्थायी शृङ्खलासे मुक्त किया मुझे, पर
अन्तहीन शृङ्खलामें मुझको है बाँध लिया।
ब्योरेवार कहो कैसे साधन असाध्य किया ?
जान पाऊँ, तुमने है क्या-क्या किया मेरे लिए,
प्राण देके ऋण परिशोध मैं करूँगा, प्रिये,
यही बस मेरा प्रण।" पल्ला खींच शीशपर
सुन्दरीने कहा, "अभी आया नहीं अवसर।"

नीरव सुदूर स्वर्ण - पालको समेटकर
दिनकी आलोक - तरी अस्ताचल - घाटपर
चली गई और जब सन्ध्याकी समीर जगी,
तीर - उपवनमें जा श्यामाकी थी नौका लगी।
हो रही थी अस्त शुक्ला-चौथकी सुचन्द्रलेखा ;
उसके प्रकाशकी सुदीर्घ किन्तु क्षीण रेखा

निस्तरङ्ग जलमें चमकती थी चम-चम।
झिल्लीकी झङ्कारोंसे सघन तरुमूल - तम
काँपता था वीणातन्त्री - तुल्य। दीप बुझाकर
उन्मुक्त वातायनके तले उस नौकापर
युवकके कन्धेका सहारा श्यामा लगाकर
बैठी थी। दक्षिणी वायु बहती थी फर-फर;
इसीसे थी छोड़ रही सघन निःश्वास नारी।
युवकके वक्षपर मुक्त केशराशि प्यारी
गन्धमयी बिखरी थी, सुनिविड़ तन्द्रा - जाल
कोमल तरङ्गायित मानो तमोजाल डाल
छा गई थी वक्षपर।

श्यामा बोली मृदुतम
अस्फुट सुकण्ठसे, "तुम्हारे लिए, प्रियतम,
मैंने जो कठिन कार्य कर डाला उस दिन,
उसका बताना तो है उससे भी सुकठिन।
कहती संक्षेपमें हूं कथा वह, सुन लेना
और उसे सर्वदाको मनसे निकाल देना।

नाम था उत्तीय औ' था बालक किशोर वह।
रहता था मेरे प्रेमोन्मादमें विभोर वह।
कहनेसे मेरे चट उसने था ओढ़ लिया
चोरीका कलङ्क तव और निज प्राण दिया।
यही इस जीवनमें सर्वाधिक पाप मम;
किया है तुम्हारे लिए इसे, अहो सर्वोत्तम,
यही मेरा गौरव है।"

क्षीण चन्द्र हुआ अस्त।
रात - रात श्रान्त क्लान्त खग-निद्रा - भारग्रस्त

नीरव निस्तब्ध था अरण्य। प्रिय-बाहुपाश
रमणीकी कटिसे शिथिल होके अनायास
धीरे-धीरे छूट पड़ा। चुपचाप सुकठोर
छा गया दोनोंके बीच विषम विच्छेद घोर।
कठिन पाषाण-मूर्ति सम जड़-तुल्य बन
एकटक ताकते थे वज्रसेन खिन्न-मन।
आलिङ्गन-च्युता छिन्न लतिका-सी गिरकर
लोटी श्यामा शीश रख युवकके पदोंपर।
धीरे-धीरे मसी-कृष्ण सरिताके जलपर
तटका तिमिरपुञ्ज होने लगा घनतर।

सहसा युवाके जानु-युगसे लिपटकर
आर्त नारी लुप्त-अश्रु शुष्ककण्ठ क्षीणस्वर
बिलखके बोली, "प्रभु, क्षमा करो मेरा पाप ;
इसका जो दण्ड होवे, मुझे वह अभिशाप
दारुणसे दारुण दे विधि अपने ही हाथ ;
किन्तु जो किया है सो तुम्हारे लिए किया, नाथ,
तुम उसे क्षमा करो।"

पैरोंको छुड़ाते-हुए
और दृष्टि मुखपर श्यामाके गड़ाते-हुए
बोले वे, "था मेरे इन प्राणोंसे क्या काम तुझे ?
निज पाप-मूल्यपर क्रय कर तूने मुझे
महापापभागी मेरा जीवन धिक्कारमय
किया जन्म-भरको है। साँसें मेरी भारमय ;
धिक इन्हें, चलतीं ये तेरी ऋणी बनकर।
धिक ये निमेषपात निमिष-निमिषपर।"
यह कह झोंकसे वे उठे ; नौका त्यागकर

चले गये अन्धकारपूर्ण वन - पथपर
निरुद्देश्य । शुष्क पत्रराशि दब-दबकर
पैरों - तले प्रतिक्षण शब्द कर चर-मर
करती थी वनको चकित । वायु - विरहित
वनमें थी छाई घन गुल्म - गन्ध पुञ्जीकृत ।
चारों ओर टेढ़ी-मेढ़ी शाखाएँ विस्तारे-हुए
वृक्ष अन्धकारमें थे नानाकार धारे-हुए
विकृत विरूप अति । रुद्ध-सा था ओर-छोर ;
वन लता-शृङ्खलित था फैलाये चारों ओर
नीरव निषेध सम अपने सुदीर्घ कर ।
थकके पथिक वहाँ बैठ गये भूमिपर ।

कौन खड़ी हो गई आ पीछे उपछाया सम ?
रक्त - लिप्त चरणोंसे पथ कर अतिक्रम
पीछे - पीछे उनके अँधेरेमें थी आई साथ
वह अनुचरी मौन । पथिकके दोनों हाथ
मुट्ठी बाँध तन गये । गरजे वे क्रोध-भरे,
"अब भी न पीछा मेरा छोड़ेगी तू, बोल अरे ?"

विद्युत्‌के वेगसे झपटके आवेशमयी
रमणी पथिकके शरीरसे लिपट गई ।
बिखरे केशोंसे निज, अस्त-व्यस्त वसनोंसे,
श्वास औ' आघ्राण स्पर्श आलिङ्गन चुम्बनोंसे
पथिकका अङ्ग - अङ्ग कर दिया आच्छादित
वन्याकी तरङ्ग सम । करुणासे विगलित
रुद्धप्राय कण्ठसे यों बोली वह बार - बार,
"नहीं, तुम्हें कभी नहीं छोड़ूँगी मैं, प्राणाधार !

किया मैंने पाप है तुम्हारे लिए, अतः तुम्हीं
मुझको दो दण्ड, करो मर्मघात स्वतः तुम्हीं,
कर दो समाप्त मेरा दण्ड-पुरस्कार अभी।"
ग्रह - तारा - हीन वन्य तमने हठात् तभी
अनुभव मानो की विभीषिका महा कराल
निज घोर अन्धतामें। लाखों तरुमूल-जाल
मिट्टीमें सिहर उठे त्राससे। बारेक दीन
दबे रुँधे श्वाससे ध्वनित हुआ एक क्षीण
अन्तिम करुण आर्तनाद। दूसरे ही क्षण
कोई गिरा भूमिपर शब्दहीन अचेतन।

ऊषा हुई, लौटे जब वज्रसेन काननसे।
प्रथम किरण - रेखा विद्युतके वरणसे
मन्दिर - त्रिशूल - चूड़ा रञ्जित थी कर रही
जाह्नवीके उस पार। सैकतमयी थी मही
नदीके किनारे; उस जन-हीन तटपर
पागलकी भाँति उदासीन घूम - घूमकर
उन्होंने समस्त दीर्घ दिन यों ही बिता दिया।
आहत मध्याह्नके तपनने अतीव किया
उनका सर्वाङ्ग अग्निपूर्ण कशाघात कर।
आईं ग्रामवधुएँ जो घट लिये कटिपर,
दशा देख उनकी वे बोलीं सकरुण-स्वर,
"कौन गृहहीन तुम? चलके हमारे घर
आतिथ्य स्वीकार करो।"
किन्तु वे थे निरुत्तर।
फटी जा रही थी छाती उनकी तृषासे, पर
सम्मुखीन नदी-जल छुआ नहीं कण-मात्र।

हुआ जब दिवसान्त, ज्वर-तप्त दग्ध-गात्र
दौड़कर जा चढ़े वे उसी बँधी नौकापर,
धाता है पतङ्ग ज्यों सवेग अग्नि देखकर
अति उग्र आग्रहसे। दीख पड़ा शय्यापर,
नूपुर था पड़ा एक। उसे चट उठाकर
छातीसे लगाया शत-शत बार सानुराग।
शतमुख वाण सम उसकी झङ्कार जाग
उरमें बरसती थी। राशीकृत नीलाम्बर
एक ओर कोनेमें था पड़ा-हुआ। उसीपर
मुँह रख पड़ गये। सुकुमार देह-गन्ध
उसमें जो बसी थी, अतृप्त प्रेमावेश-अन्ध
श्वासोंसे पी गये उसे। सप्तपर्ण-तरुपर
अस्ताचलगामी शुक्ल-पञ्चमीका शशधर
शोभित जो हो रहा था, उतर गया था अब
शाखाओंकी ओटमें। विषाद-युक्त युवा तब
दोनों बाहु फैलाकर बन-ओर दृष्टि किये
लगे यों पुकारने, "कहाँ हो, आओ, आओ प्रिये!"
उसी क्षण सिकताकी भूमिपर तीर-स्थित
वनके सघन कृष्ण तिमिरमें समुदित
किसीकी दिखाई पड़ी मूर्ति उपछाया सम।
"आओ, आओ प्रिये!" "यह आ गई मैं, प्रियतम!"
चरणोंमें गिरी श्यामा, "करो मुझे क्षमा दान।
विदा तो हो सके नहीं मेरे ये कठिन प्राण
सकरुण हाथोंसे तुम्हारे।" बस, क्षण-भर
अपलक दृष्टि रही युवतीके मुखपर;
आलिङ्गन हेतु हाथ उन्होंने बढ़ाये ज्यों ही,
स्वतः चौंक, नारीको ढकेल दिया दूर त्यों ही।

गरजे वे, "तू क्यों आई ? आ गई क्यों लौटकर ?"
नूपुर छातीसे हटा फेंक दिया। पैरोंपर
पड़ा - हुआ नीलाम्बर फेंक दिया खींचकर,
ज्वलित अङ्गार सम। वे थे जिस शय्यापर
कर रही दहन थी वह अग्निशय्या बन।
आँखें मूँद, मुँह फेर, बोले वे, "तू इसी क्षण
जा जा, लौट जा तू अभी, छोड़ मुझे मेरे लिए।"
क्षण-भर चुप खड़ी रही सिर नीचा किये;
तत्पश्चात् टेककर घुटने जमीनपर
उसने प्रणाम किया युवकको झुककर;
तटपर उतरके रमणी निराशामयी
तमोमय काननमें धीरे - धीरे चली गई,
क्षणिक अपूर्व स्वप्न, निद्राभङ्ग होनेपर
होता ज्यों विलीन नैश तिमिरमें डूबकर।

बंगला - रचना : आश्विन १९५६
हिन्दी - अनुवाद : चैत्र २००८

समान्य क्षति

[दिव्यावदानमाला]

माघ मास, शीतल बयार थी,
बहती स्वच्छ-सलिल वरुणा।
पुरसे दूर विजन ग्राम-स्थित
जहाँ घाट चम्पकवन-आवृत,
सौ सखियाँ ले चलीं स्नान-हित
काशीकी रानी करुणा।

आज प्रातसे मार्ग घाट वे
राजाज्ञासे थे निर्जन।
जो कुछ कुटियाँ थीं समीपतर
गये लोग थे उन्हें छोड़कर ;
थी गम्भीर स्तब्धता तटपर,
वनमें था बस खग-कूजन।

थी उद्विग्न वायु उत्तरकी,
थी उतावली-सी तटिनी।
स्वर्ण-किरण-द्युति-मण्डित था जल,
पुलक उछलतीं लहरें छल-छल,
झलकाती बहु मणिमय अञ्चल
नाच रही हो ज्यों नटिनी।

कल-कल्लोल लजाया सुनकर
नारि-कण्ठ - काकली रसाल,
ललित मृणाल-भुजा - विलाससे
मत्त नदी थी महोल्लाससे,
मुद आलाप - प्रलाप हाससे
अकुला उठा सुव्योम विशाल।

जब कर स्नान नारियाँ आईं
तटपर, रानी बोलीं तब,
"ठिठुर ठण्डसे, अरी, रही मर,
काँप रहा मेरा तन थरथर,
सखियो, आग जलाओ सत्वर,
आग ताप गर्मा लूं अब।

ईंधन लेने गईं कुसुम-वन
सखियाँ आज्ञाके अनुसार।
कौतुक-रससे वे मतवाली
लगीं खींचने धर-धर डाली,
लीला उनकी निरख निराली
रानीने हँस कहा पुकार,–

"आओ सखियो, लखो, दीखती
निकट किसीकी कुटी खड़ी।
आग लगा दो, कुटी उठे जल,
सेकूं उससे मैं कर-पदतल।"
कहती - हुई रंग - रस - विह्वल
मधुर भावसे विहँस पड़ीं।

कहा मालतीने सकरुण हो,
"रानी-मा, यह क्या परिहास?
क्यों तुम कुटी-विनाश-प्रयासी?
कौन दीनजन, यति संन्यासी,
कौन प्रवासी इसका वासी,–
इसका भी न हमें आभास।"

रानी गरजीं, "दयामयी है !
अभी इसे दो दूर भगा।"
अति अदम्य कौतुक-रँगराती
निष्ठुर - उर यौवन-मदमाती
पागल-सी हँस-हँस बल खाती
सखियोंने दी आग लगा।

घूम - घूमकर फैल - फैलकर
उड़ने लगा धूम घनघोर।
पल - भरमें हुङ्कार मचाती
लाटोंसे उल्का बरसाती
लप-लप जिह्वाएँ लपकाती
छूने लगी वह्नि नभ-छोर।

ज्यों पाताल फोड़ निकली हों
ज्वालामयी नागिनें जाग,
नचा-नचाकर गगन-ओर फण
हो प्रमत्त करती थीं गर्जन।
प्रलय-मत्त सुनतीं रमणी-जन
उस गर्जनमें दीपक - राग।

भय विलापसे प्रात खगोंके
भङ्ग हुए आनन्दित राग।
कौए उड़ते कोलाहल कर,
बहती उत्तर - वायु प्रबलतर,
एक कुटीसे अन्य कुटीपर
उड़-उड़ लगी फैलने आग।

लील गई छोटा-सा जनपद
अनल प्रलय-लोलुप-रसना ।।
शिशिर प्रात, था पथ जन-विरहित,
मोद-क्लान्त सखियोंसे आवृत
लौट गई कर-कुवलय-शोभित
रानी दीप्त-अरुण-वसना ।।

बैठे थे उस समय नृपतिवर
न्यायासनपर संसदमें ।
गृह-विहीन आ सदल प्रजाजन
रुद्धकण्ठ द्विविधा-कम्पित-मन
सभय संकुचित दुःख निवेदन
करते थे झुक श्रीपदमें ।।

गये सभासन तज नृप, मुख था
लाल क्रोध-लज्जाके भार ।
बोले अन्तःपुरमें जाके,
"रानी, यह क्या कार्य ? जलाके
फूँके गृह हतभाग्य प्रजाके,
हा, किस राजधर्म-अनुसार ?"

बोली रानी रूठ, "उन्हें क्यों
गृह कहना तुमको भाता !
मिटीं जीर्ण वे कुटियाँ कतिपय
हुई हानि क्या, किसका क्या क्षय ?
रानीके प्रमोद-हित क्या-क्या
व्यय घड़ियोंमें हो जाता !"

दाव दीप्त क्रोधाग्नि हृदयकी
बोले नृपति वचन दुखमय,
"जब तक हो तुम रानी सम्प्रति,
कुटी - हीन दीनोंकी दुर्गति
समझ न सकतीं, मैं उनकी क्षति
समझा दूँगा, हे निर्दय !

राजाज्ञासे दासीने आ
तुरत खोल फेंके भूषण
अरुणवर्ण अम्बर तनपरसे,
खींच उतारा निर्मम करसे,
और भिखारिनके चीवरसे
सजा दिया रानीका तन।

पथमें ला नृप बोले, "माँगो
द्वार - द्वार भिक्षा, सुभगे !
एक घड़ीकी लीलाके छल,
जितनी कुटियाँ छार हुईं जल,
उतनी गढ़ो भीखसे उस थल
चाहे जितना समय लगे।

अवधि वर्ष-भरकी देता हूं,
आना धूल छान मगकी ;
खड़ी सभामें तुम हो जाना,
सबको कर प्रणाम बतलाना,
कतिपय जीर्ण कुटीर जलाना
क्या कर सका हानि जगकी।"

पुजारिनी

[अवदानशतक]

विम्बिसार नृप परम उदार
नवा बुद्धको शीश, माँगकर
लाये पद-नख स्मृति-उपहार।
सादर उपवनमें स्थापन कर
किया यत्नसे निर्मित उसपर
स्तूप अनूप शिलामय सुन्दर
ललित शिल्प - शोभाका सार।

सन्ध्याको शुचि वसन पहनकर
नृप - कुल - वधुएँ बालाएँ
लिये फूलकी डाली आतीं,
स्वर्ण - थालमें दीप सजातीं,
स्तूप - मूलमें स्वयं जलातीं
कञ्चन - दीपक - मालाएँ।

हुए अजातशत्रु जब राजा,
बैठ पिताके आसनपर
राजपुरी कर शोणित - रञ्जित
मेटा धर्म पिताका स्थापित,
यज्ञ - अनलको किया समर्पित
बौद्ध शास्त्र - साहित्य - निकर।

कहा अजातशत्रुने पुरके
सब लोगोंको कर आह्वान;
"सिवा वेद, राजा, ब्राह्मणके
कुछ भी योग्य नहीं पूजनके,
स्मरण रहे यह, विस्मृत बनके
लोगे मोल विपत्ति महान्।"

था शारद दिवसान्त, 'श्रीमती'
नाम्नी नृप - दासी सत्वर
पावन जलसे समुद नहाकर
पुष्प - दीपसे थाल सजाकर
खड़ी हुई रानी ढिग आकर
किये दृष्टि श्रीचरणोंपर।

सभय सिहरकर रानी बोलीं,
"क्या तुझको है नहीं स्मरण,
नृपका यह आदेश भयङ्कर,
अर्घ्य स्तूपको देगा जो नर
मृत्यु लहेगा वह सूलीपर
या पायेगा निर्वासन?"

लौटी, राज - वधू अमिताके
कक्ष गई वह लेकर थाल।
सम्मुख रख सोनेका दर्पण
करती थीं वे कवरी - बन्धन;
मांग काढ़ कुंकुम - रेखाङ्कन
करनेवाली थीं उस काल।

ज्यों ही दृष्टि पड़ी दासीपर
          काँपा कर, बिगड़ी रेखा।
"री अबोध, किस साहसके बल
लाई पूजा ? भाग इसी पल ;
घोर विपत्ति ढहेगी इस थल,
          तुझे किसीने जो देखा।"

अस्तोद्यत रविकी आभामें
          वातायन ढिग आसनपर
बैठ कुमारी शुक्ला संयत
काव्य-कथा पढ़नेमें थीं रत ;
किङ्किणि-ध्वनि ज्यों हुई कर्णगत
          गई दृष्टि था द्वार जिधर।

दासीको लख शुक्लाने तज
          पढ़ना, दौड़ पास जाकर
कहा कानमें, "क्या न तुझे डर !
राजाज्ञा है विदित न किसपर ?
काल - गालमें जान - बूझकर
          क्या जाना है श्रेयस्कर ?"

फिरी श्रीमती द्वार - द्वार ले
          करमें पूजाकी थाली,
"पुरवासिनियो !" — वह चिल्लाई,
"घड़ी बुद्ध - पूजनकी आई !"
सुन वाणी कोई थर्राई
          और किसीने दी गाली।

नगर - सौध - शिखरोंसे दिनका
हुआ शेष आलोक विलीन।
हुए तिमिरमें निर्जन पथ लय,
क्षीण हुआ कोलाहल अतिशय,
आरति-घण्ट-क्वणित था ध्वनिमय
राज - मान्य मन्दिर प्राचीन।

शरद - निशाके स्वच्छ तिमिरमें
तारक - दीपक जले अपार।
सिंहद्वारपर बजे शृङ्ग घन,
गाने लगे गान बन्दीजन,
"हुई मंत्रणा - सभा समापन"—
किया द्वारिकोंने चीत्कार।

अति आश्चर्य - चकित नयनोंसे
लखा प्रहरियोंने उस काल,
विजन राज-वनमें तमसावृत
उच्चस्तूप - पदमूल - सुसज्जित
यह कैसी हो रही प्रज्वलित
शुभ्र ज्योतिमय दीपकमाल!

आया दौड़ वहाँ पुर-रक्षक
पूछा उसने खींच कृपाण,
"बोल मूढ़, तू कौन? आरती
स्वीय मृत्युकी क्यों उतारती?"
"मैं नृप-दासी, नाम श्रीमती,
बुद्धदेव मेरे भगवान।"

सित पाषाण-फलकपर उस दिन
लेख रक्तसे गया लिखा ।
स्वच्छ शरद-निशिके उस पलमें
नीरव विजन विपिन-अञ्चलमें
सहसा बुझी स्तूप-पदतलमें
शेष आरती - दीप - शिखा ।

बंगला-रचना : आश्विन १९५६
हिन्दी-अनुवाद : चैत्र २००८

लक्ष्मीकी परीक्षा

नाट्यकाव्य

•

23 - 5

अनुवादकका निवेदन

विश्वकवि रवीन्द्रनाथके काव्योंका अनुवाद करते समय मैंने यथासाध्य इस बातकी चेष्टा की है कि कविके शब्द यथासाध्य ज्योंके त्यों रखे जायँ या उनके हिन्दी पर्याय रहें। पद्य-रचना और हिन्दीकी प्रकृतिकी रक्षाके लिए जितनी स्वतन्त्रता लिये बिना चारा नहीं, उससे अधिक न लेनेका ही बराबर प्रयास करता रहा हूं। फिर भी, 'लक्ष्मीकी परीक्षा' के इस अनुवादमें मुझे अपनी धारामें कुछ परिवर्तन करना पड़ा है। इसका कारण है।

रवीन्द्रनाथने, 'लक्ष्मीकी परीक्षा', विषयके अनुरूप स्त्रियोंकी स्वाभाविक बोलचालकी मुहाविरेदार भाषामें लिखी है; और उसमें उन्होंने ग्रामीण शब्दोंके साथ-साथ बंगलामें प्रचलित अरबी-फारसीके शब्दोंका भी अवाधगतिसे प्रयोग किया है। कविकी यह रचना अत्यन्त सरस, स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी है, और साथ ही हास्य-कौतुक-व्यंगकी भी इसमें कमी नहीं। मूल रचनाका भाषा-सौष्ठव अपना एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। मेरे विचारमें मूल काव्यकी इस विशेषताकी यत्किंचित् रक्षा अनुवादमें तभी सम्भव हो सकती है जब उसमें कविके शब्दोंकी अपेक्षा भाव, आशय, शैली और उक्ति-बल अधिक स्पष्ट-रूपमें रहे। इसी बातको दृष्टिमें रखते-हुए इसका अनुवाद किया गया है; और ऐसा करनेमें कुछ अधिक स्वतन्त्रता काममें लाई गई है। फिर भी कविका पदानुसरण करनेमें त्रुटि नहीं की गई है।

एक बात और, मूल काव्यके कुछ पात्रोंके नाम परिवर्तन किये गये हैं। जैसे, 'क्षीरो', 'त्रिनी', 'किनि' की जगह 'मीरो', 'बन्नो' और 'कन्नो'।

श्यामसुन्दर खत्री

लक्ष्मीकी परीक्षा

प्रथम दृश्य

रानी कल्याणीके राजभवनमें मीरो

मीरो— धनी किया करते हैं धर्म-कर्म सुखी बन,
रहते पसीना ही बहाते सदा दीन जन।
रानी तुम, पास है तुम्हारे रुपयोंकी खान,
खेल बाएँ हाथका है दान-पुण्य व्रत-ध्यान।
हुकुम चलाना भर काम है तुम्हारा बस,
दिन-रात पिसना ही काम है हमारा बस।
तो भी तुम्हें मिलता है सारा पुण्य सारा यश,
सूना ही सदैव भाग्य रहता हमारा बस।

नेपथ्यमें— मीरा, मीरो, एरी मीरो!

मीरो— क्यों मची पुकार अब ?
खाना औ' नहाना भी क्या, हाय, दूँ बिसार अब ?

[रानी कल्याणीका प्रवेश]

कल्याणी— बात क्या है ? अभी तक गुस्सा ही है तेरा जगा!

मीरो— काम भी तो रहता है मेरे सदा पीछे लगा।
तन हाड़-माँसका है, कितना सहेगा अहो ?
एक आदमीके किये कितना हो काम, कहो ?
दिनपर दिन तो शरीर मेरा जाता गला।

कल्याणी— ऐसा कौन कष्ट तुझे यहाँ दिया जाता भला ?

मीरो— जितनी भी जो हैं यहाँ रामी, श्यामी, सभी रानी,
सभीकी हूं मानो मैं खरीदी-हुई नौकरानी।
ब्राह्मण हो, शूद्र हो, हूं सबकी गुलाम मैं ही;
भर-भर टोलेके लोगोंका करूँ काम मैं ही।

चूल्हेपर हण्डी नहीं चढ़ती किसीके घर ;
खुला न्योता सबोंका तुम्हारे ही भण्डारेपर।
भाँड़े माँजूँ, दूँ जहान-भरको तमाखू-पान,
हाड़-हाड़ हो गई हूं, आधी हो गई है जान।
मरी जाती खटके अकेली, बुरा हाल मेरा,
तो भी न पसीजती हो ?

कल्याणी— यह भी कसूर तेरा।
तेरी गज-भरकी क्या जीभ दम लेती कभी ?
दाई-नौकरोंको यहाँ टिकने क्या देती कभी ?
जो भी आता, बोल बोल उसे तू खदेड़ देती,
फिर रो-रो सारा घर सिरपर उठा लेती।
बोल, क्या उपाय करूँ ?

मीरो— बात तो है सच, पर
रह नहीं सकती मैं किसीकी भी सहकर।
शौकसे क्या किसीको मैं यहाँसे निकाल देती ?
रोते मेरे प्राण जो अन्याय कहीं देख लेती।
जमा होते यहाँ डाकू न-जाने कहाँसे आके,
दोनों हाथों लूटते खसोटते हैं मौका पाके।
उन्हें जो खदेड़ूं नहीं, तुम्हें तो है नहीं पता,
मेरा गला घोंटके वे तुम्हींको बतायें धता।

कल्याणी— माधवी डकैत है औ' माधव है बटमार,
सभी तो हैं चोर-डाकू, तुम्हीं हो ईमानदार !

मीरो— मैंने कब कहा है कि मैं ही हूँ ईमानदार ?
सोची भी न मैंने ऐसी झूठी बात एक बार।
दोनों हाथों लेती हूं, बटोरती हूं, खाती हूं मैं,
दोनों बेला देती हूं आशीष, गुण गाती हूं मैं।
किन्तु मेरे दो हाथोंसे जादा लिया जायगा क्या ?

दो हाथोंमें दो मुट्ठीसे जादा भी अमायगा क्या ?
जितने ही जादा लोग घरमें बुलातीं तुम,
उतने ही हाथोंकी भी अदद बढ़ातीं तुम।
जानती हो, बहन, कि सिर्फ लेनेके ही लिए
हम दास-दासियोंको ईश्वरने हाथ दिये।
बचाके पड़ोसियोंकी नजरोंसे किसी ढब
रखो ढक - दाब कुछ अपने लिए भी अब।
उससे जो जादा रहे, फिर खर्च कर देना;
जितने भी चाहो दास-दासियोंको रख लेना।

कल्याणी— तुम्हीं हो अकेली मानो! लिये क्या बटोर नहीं
नाती और नातिनें, भतीजियाँ भतीजे यहीं ?
लाड़ले तुम्हारे सभी रहते तुम्हारे साथ;
उन्हें भगवानने क्या दिये नहीं दो-दो हाथ ?
बात तेरी ऐसी है जो धरी न उठाई जाती,
जिसे सुन गुस्सा आता और है हँसी भी आती।

मीरो— हँसीसे जो जादा कहीं तुमको गुस्सा ही आता,
सच मानो, मेरा तो स्वभाव ही सुधर जाता।

कल्याणी— मरके भी जाता नहीं जिसका स्वभाव जो है,
इसमें सन्देह नहीं।

मीरो— मानती हूं। तभी तो है
मुझको भरोसा पूरा,— मौतको भी होगी नहीं
एकाएक हिम्मत कि मेरे पास आये कहीं।
देखो, देश-भरकी निठल्ली औरतोंका दल
बैठा आ तुम्हारे द्वार, मच रही हलचल।
किसीका खसम मुहताज दाने - दानेको है,
बेटेकी मामीका कोई श्राद्ध करवानेको है;
कितने बहानोंके खजाने आके खोल देतीं,

अपने खजाने दान-दक्षिणासे भर लेतीं।
यहाँ तो है कमी नहीं, लेती रहें दिन-रात ;
आँखोंमें जो झोंकती हैं धूल,—यह कैसी बात !

कल्याणी— बकती फिजूल क्यों तू, तेरे क्यों उठा है शूल ?
आँखोंमें पड़ेगी नहीं, झोंका करे कोई धूल।
सब मैं समझती हूं। तथ्य बात यही जानी,
वे बिचारी हैं गरीब और मैं हूँ राजरानी।
करके बहाने वे जरूरतें निकाल लेतीं,
देनेका स्वभाव मेरा, इसीलिए मैं हूं देती।
वे ही जानें, उन्हें किस कामसे होता है सुख ;
मैं तो जानूं मुझे जिस कामसे होता है सुख।

मीरो— जिसका हैं खातीं, गुण उसका जो गातीं कभी,
देने औ' दिलानेका तो आता कुछ मजा तभी।
सामने तो मीठी-मीठी बातें बना छूतीं पैर,
पीठ-पीछे निन्दा कर साधा करती हैं बैर।

कल्याणी— सामने जो पाती, मेरे लिए है बहुत वही,
पीठ-पीछे क्या होता है, जाने जगदीश्वर ही।
छोड़ यह चर्चा। एक बात पूछती हूं अब,
सच-सच बता, कल सन्ध्याके समय जब
की गई अतिथि-सेवा, पत्तलोंमें, बोल भला,
एकदम कम पड़ गई थी क्यों "चन्द्रकला,
और क्यों दिखाई नहीं पड़ी कहीं रसभरी ?

मीरो— बहनजी, झूठमूठ करतीं क्यों मसखरी ?
अपने ही हाथसे तो मैंने गिन-गिनकर
दोनों चीजें रखी रहीं हरएक पत्तेपर।

कल्याणी— इन्हीं आँखों देखा,—सब लोगोंको ये मिली नहीं ;
कितनी ही पत्तलोंमें ये दो चीजें नहीं रहीं।

मीरो— हाय राम, यही तो अचम्भा बड़ा मुझे आता,
इतना सामान लाती, जाने कहाँ चला जाता !
भोला हलवाईकी है यह बदमाशी सारी।

कल्याणी— एक-एक दूधका कटोरा बँधा, तो भी, हाँ री,
आधा भी कटोरा दूध मुश्किलसे कोई पाता !

मीरो— ग्वाला धर्मराज बन दूध देने नहीं आता।
ऐसे मेरे फूटे भाग, ऐसे मैंने पाप किये,
विष है कुदृष्टिका तुम्हारी सदा मेरे लिए !
जितना भी झाड़ू-जूता तुम्हें बरसाना होता,
हाय हाय, वह मेरी पीठको ही खाना होता।

कल्याणी— रहने दे, रहने दे, हो चुका बहुत अब !
आजका है नहीं, है पुराना रोना झूठा सब।

मीरो— सारे टोले-भरकी इकट्ठी होके बैठी - ठाली,
वह देखो, आ रही हैं सच्चा रोना रोनेवाली।

[पड़ोसिनोंका प्रवेश]

पड़ोसिनें— जय हो तुम्हारी सदा, तुम रहो सदा जयी !
हे रानी कल्याणी, तुम सच ही कल्याणमयी !

मीरो— सुनो रानी - बहन, लो सुनो कान खोलकर,
पत्तलोंमें कम कोई चीज होती रत्ती - भर,
तो क्या दिल खोल-खोल और फाड़-फाड़ गला
इस भाँति जय-जयकारे ये लगातीं भला ?
जो मैं दैव-मारसे दो - चार चन्द्रकला कहीं
और भी दे डालती, तो इनकी थी खैर नहीं ;
हो जाती कुपच, 'दैया दैया' ये चिल्लातीं वहीं।

कल्याणी— आज तो परोसनेमें कोई चीज घटी नहीं ?

पहली पड़ोसिन— कितना बर्बाद गया, इतना था दिया डाल।
लक्ष्मीके भण्डारमें क्या भोजनका होगा काल ?

कल्याणी— अच्छा हाँ, बताओ, यह साथ ले आई हो किसे ?
कौन है, मैंने तो कभी पहले न देखा इसे ।

दूसरी पड़ोसिन—यह मेरे मधुकी है अभी नई बहू आई ;
चरण तुम्हारे छूने इसको मैं साथ लाई ।

मीरो— यह मैं समझ गई रंग-ढंग देख ही के ।

दूसरी पड़ोसिन—आओ बहू, आओ, पैरों पड़ो रानी-माताजीके ।

कल्याणी— आओ, पास आओ, बहू, क्यों हो शरमाती ऐसा !
(बहूको अँगूठी पहनाकर)
आहा, मुँह इसका है भोला सोफियाना कैसा !
गौरसे तू देख, मीरो ।

मीरो— मुँहका क्या कहना है !
मुंहसे सुन्दर तुम्हारा दिया गहना है ।

दूसरी पड़ोसिन—क्या करूंगी लेके खाली रूप और सुघराई ?
कुछ भी तो गहना औ' जेवर न साथ लाई ।

मीरो— रखा है सहेजके सन्दूकमें जो लेके आई,—
निन्दा रोनेवालियोंने रागिनी तो यही गाई ।

कल्याणी— आओ, चलो अन्दर ।

मीरो— हां, अन्दर जरूर जाओ !
मिलेगा बातोंके मोल सोना, जाके लूट लाओ ।

[कल्याणी और बहूके साथ दूसरी पड़ोसिनका प्रस्थान

पहली पड़ोसिन—देखा, कैसा ढंग यह औरत है रच रही ?

मीरो— किसे देखूँ, किसे नहीं, सबका हवाल यही ।

तीसरी पड़ोसिन—जो भी कहो, इतना अन्धेर सहा जाता नहीं ।

मीरो— एककी बहूको दाता गहना जो दे दे कहीं
औरोंके कलेजे साँप लोटेगा जरूर ।

तीसरी पड़ोसिन— मासी,
करती हो तुम तो रँगीली मसखरी खासी ।

कितना मजाक, मासी, करना है तुम्हें आता !
हँस-हँस पेट हम सबोंका है फटा जाता।

पहली— चाहे जो भी कहो, ये हमारी जो हैं रानी-माता,
इनके समान कहीं नहीं कोई बड़ा दाता।

मीरो— यानी, बेटी किसीके मा-बापने न जनी ऐसी
आँखकी अन्धी औ' पूरी गाँठकी है रानी जैसी।

तीसरी— बात यह एकदम झूठ नहीं तूने कही।
देख न लो, उसी दिन कैसी ठग-विद्या रही
कुशी और क्षान्तकी। दैया रे दैया, देखा सभी।
आहा, मासी, सहजों क्या गुस्सा तुम्हें आता कभी ?
हमें ही बर्दाश्त नहीं होते ये अन्धेर नये।

चौथी— बूढ़े महाराज यह दौलत जो छोड़ गये,
उसे ठग कर कुछ धूर्त औ' उठाईगीरे
साफ इसी तौरसे क्या कर देंगे धीरे-धीरे ?

पहली— देखा तो कि उस दिन कानी आनन्दीने यों ही
कैसा गज्झा माल मारा !

तीसरी— बूढ़ी दादीजीने ज्यों ही
रोनेका दिखाया स्वाँग, बस दिल हिल गये,
कपड़े गरम उन्हें कितने ही मिल गये।

चौथी— ऐसी भी क्या ठंडसे थी मरी जाती, जो यों रोई ?
कथरीसे काम होता, ले गई उठाके लोई।
आखिर तो चोर चुरा लेगा उसे लगा घात।
यह तो है बड़ी अति !

पहली— जाने भी दो यह बात।

चौथी— न न, मेरा कहना है, तुम दाता कर्ण होगी,
इसीसे क्या अक्लका कचूमर निकाल दोगी ?
राज्यमें हैं जो भी दुखी कँगले औ भूखे-नंगे

उड़िया बंगाली मारवाड़ी खोटे माँदे - चंगे
काने लूले लंगड़े जो मरने हैं आते यहीं,
उनमें है कौन कैसा,- सोचनेकी बात नहीं ?

तीसरी— देख न, बहन, तू गोपालकी ही माको अब,
दो रुपयेमें ही वह खा - पहन लेती जब,
उसको महीना पाँच रुपयेका बाँधकर,
करनी है रुपयेकी होली यह सरासर।

चौथी— असली जो बात पूछो, कहूंगी मैं फाड़ गला,-
औरतके पास होना दौलतका नहीं भला।

तीसरी— कितनोंने कितनी उड़ाईं अफवाहें यहाँ।

पहली— वे तो सारी बातें झूठी, उनमें सचाई कहाँ ?

चौथी— सच झूठ राम जानें, कहते हैं यही दाना,-
अच्छा नहीं दस कान कोई बात फैल जाना।

पहली— जो भी कहो, ऐसी नारी भारतमें नहीं कहीं,
सबसे ही मीठी बात, किसीसे दुराव नहीं।

मीरो— मैं भी कहीं बक्स-भर रुपया पा जाऊँ, रानी,
मेरे मीठे बोलोंसे भी हो जाओगी पानी-पानी।
'बच्ची' जो कहूंगी तुम्हें, स्वर्ग ही दिखाई देगा ;
'बेटी' जो कहूंगी, गश खुशीसे तो आ जायेगा !
याद रखो, बात तभी असली मिठास बोती,
बातके ही साथ जब रुपयोंकी वर्षा होती।

चौथी— तो भी मैं तो कहूंगी कि मेलजोल इस तौर
सबसे ही होना बड़ी-भारी जादती है ; और
तुम भाग्यवान् जैसी, बड़ी-आदमी हो जैसी,
चालढाल भी तो होनी चाहिए तुम्हारी वैसी !

तीसरी— उस दिन देखा कि चन्द्राके बाएँ गालपर
अपने ही हाथसे लगा दी दवा उठाकर !

चौथी— लंगड़ा है विधु, वह बेशऊर बन्दर है,
उसका क्यों फिर ऐसा मान और आदर है ?
तीसरी— और भी हैं, किसीकी तो पूछी नहीं जाती बात,
क्यों पुकारी जाती हैं केदारकी मा दिन-रात ?
ग्वालटोले-वाली उस कृष्णा दासीके ही संग
कैसी होती गपशप हाहा - हीही व्यंग-रंग !
कबका पुराना बहनापा मानो चला आता !
चौथी— यह छोटे लोगोंका है लाड़ दिखलाया जाता ।
मोरो— जगका तरीका यही, मैंने खूब किया गौर,-
लेना-देना छोड़कर बात नहीं कोई और ।
मुँहमें हमारे भात दो मुट्ठी हैं डाल देती,
इसीसे मजेमें नामवरी वे हैं कमा लेती ।
मुँहमें जाते ही तो समाप्त हो जाता है भात,
नामवरी कानोंको है देती सुख दिन-रात ।
चौथी— देख, वह बहूको ले साथ अब लौट रही ।

[बहूके साथ दूसरी पड़ोसिनका प्रवेश]

पहली— क्या-क्या मिला, विधु, देखूं देखूं, मैं देखूं तो सही ।
दूसरी— देख लो न, सिर्फ है 'रतनचौक' एक जोड़ा ।
तीसरी— रूठे हैं विधाता आज, भाग्यने है साथ छोड़ा ।
कैसी आवभगतसे ले गई थीं दानी बन,
लगता था मढ़ देंगी गहनोंसे सारा तन !
चौथी— 'प्यारी'-बूढ़ीको तो दिया लड़कीके ब्याहपर
हार और साथमें थीं चूड़ियाँ कलाई-भर !
दूसरी— मैं तो वैसी नहीं हूँ गरीबनी लाचार, भाई,
बदतर सबसे गरीबनी थी बूढ़ी - माई ।
गहनेके लायक है जिसका नसीब नहीं,

होके भी गरीब गिना जाता है गरीब नहीं।

चौथी— जरा बड़े-लोगोंको इन्साफका खयाल नहीं।
किसीके लिए तो नहीं मनमें जगह कहीं,
कोई पूजा जाता है बैठालकर सिरपर।

पहली— पैसा-टका मूली-गोभी, जो पाऊँ सो बेहतर।
इतना भी कौन देता!

दूसरी— दिया क्या है, टाली बला।
ऐसी बेइन्साफीसे तो देनेसे न देना भला।
सिर नीचा हुआ, एहसान मैंने लाद लिया;
कुछ भरी सोना ले फिजूल हाथ काला किया।

मीरो— कृपा लक्ष्मी-मैयाकी मैं यदि प्राप्त कर लेती,
देना किसे कहते हैं,- यह तुम्हें दिखा देती।

दूसरी— आहा, ऐसा ही हो जाये, लक्ष्मीसे तू वर पाये,
मिले धन इतना कि घरमें ही न अमाये!

पहली— रोको बकवास, क्यों न होशसे हो काम लेती,
रानीजीके पैरोंकी है आहट सुनाई देती।

चौथी— आहा, माताजीकी है अपार दया हमपर;
(ऊंचे स्वरमें) रानी क्या हैं, लक्ष्मी मानो आई देह धरकर!

दूसरी— हुई नहीं जगतमें कहीं कोई नारी ऐसी,
रखती हैं सबपर दयादृष्टि एक-जैसी।

तीसरी— बलिहारी आऊँ, साधा करतीं ये परमार्थ,
पड़ा हाथ इनके विभव-धन हुआ सार्थ।

[कल्याणीका प्रवेश]

कल्याणी— रात हुई तो भी जमी काहेकी कमेटी अभी?

मीरो— यशका तुम्हारे खेत, मिलके ये यहाँ सभी
गोड़ रहीं, निरा रहीं, हल चला जोत रहीं,

हेंगा चला, ढेले फोड़, मेड़ बाँध ब्योंत रही,
बीज बीच - बीचमें मैं खेतमें हू डाल रही,
बो-बोके फसल, अरमान हूं निकाल रही।

कल्याणी— जाओ, अब घर जाओ बहुत हो गई रात,
किन्तु मेरा कहना है, याद रखो एक बात,
दुनियामें मिटनेको मिट जातीं चीजें सभी,
बस एक आशा-तृष्णा मिटती है नहीं कभी।
मन-चाहा दान कल्पवृक्षका जो होता जारी,
उसमें भी लग जाते घुन, मैं तो तुच्छ नारी।
तिसपर यदि मेरी निन्दा हुआ करे कहीं,
खोऊँगी हवास नहीं, मूर्च्छा आ जायेगी नहीं।
बस मेरा कहना है, सोच देखो इतना भी,
क्या है बड़ा सख्त काम मीठे बोल बोलना भी ? [प्रस्थान

चौथी— थाह लेना चाहती थीं, बातें यहाँ क्या हो रहीं।

मीरो— नहीं, यह बात नहीं। उनसे है छिपा नहीं,–
मुँहपर करती हो जितनी बड़ाई तुम,
पीठ-पीछे करती हो उतनी बुराई तुम।
मीठेके समान उपकार है,–जो इसे खाता
उससे न खाया जाता और मुँह बँध जाता,
इसीलिए चाहिए कि चटनी भी सङ्ग रहे,
यानी, निन्दा चुगली शिकायतका रङ्ग रहे।
लहू जिस अङ्गका पी मच्छड़ है फूल जाता,
उस अङ्गमें ही वह जलन औ' टीस लाता।
देवताको राक्षस संसार बना देगा जब,
पूरा और सच्चा कलिकाल आया जानो तब।

चौथी— झूठ नहीं कहती तू। सम्हलके रहा कर ;
मुँहमें जो आवे सो न बका कर बर-बर।

पालन जो करता है वह होता माई-बाप।
उसकी फिजूल निन्दा करना है महापाप।
ऐसी लक्ष्मी-रूपिणी औ' ऐसी सच्ची साध्वी सती,
कहाँ इस जगमें है, ऐसी नारी पुण्यवती?
धन और दौलतमें भाग्य बढ़ा-चढ़ा जैसा,
दान-पुण्य करनेमें हाथ भी है खुला वैसा।
जैसी रूपशालिनी हैं, सती साध्वी भी हैं वैसी।
उनमें निकाले दोष, किसकी मजाल ऐसी?
ऐसी गुणवतीको तू दीजियो न दोष कभी।

तीसरी— तेरा मुंह बन्द हो तो चुप रहें और-सभी।

दूसरी— आहा, बड़ी आई कहींकी ये ज्ञानवान गुरू!
रहने दो ज्ञान यह अपना, न करो शुरू।
मुँहसे तुम्हारे एकाएक यह धर्म-ज्ञान
लगता मजाक खास, लगता है वक-ध्यान।

मीरो— धर्मको भी पालो और झगड़ा भी करो, पर
डङ्का मत पीटो तुम गला फाड़-फाड़कर।
पेट-भर खाया और निन्दा भी की पेट-भर,
अब घर जाके राम नाम जपो लेटकर।

[पड़ोसिनोंका प्रस्थान

मीरो— कहाँ गईं, अरी बन्नो, अरी कन्नो, अरी काशी?

[बन्नो, कन्नो और काशीका प्रवेश]

काशी— क्या है दीदी?

कन्नो— क्या है चाची?

बन्नो— आगई मैं, क्या है मासी?

मीरो— आओ, कुछ खा लो अब।

बन्नो— भूख तो नहीं है अभी।

मीरो— भूखका क्या, खाना मिले, खा लो, मत चूको कभी ।
बन्नो— खा चुकी हूँ रसभरी, पेट मेरा गया कस ।
मीरो— जादा नहीं, खा ले सिर्फ चार चन्द्रकला बस,
भोला हलवाईकी है नामी चीज । पथरीके
ढक्कनको खोल, देख, इसे खाके और पीके
दूध दो कटोरा, सो जा रानी-बेटी बनकर ।
काशी— दीदी, कहो, कितना मैं खाती रहूँ दिन-भर ?
मीरो— खाना तो मुनहसर होता नहीं भूखपर ।
पेटकी ज्वालाके मारे कितने ही नारी-नर,
देख, किया करते हैं कैसी दौड़ाधूपी ; पर
जुड़ता है उन्हें कहाँ खाना कभी पेट-भर ?
दुखिया गरीब कुली कंगले लाचार जो हैं,
आरत अनाथ मजदूर औ' गवाँर जो हैं,
किसीको भी लगती है भूख कुछ कम भला ?
सबके ही भाग्यमें तो होती नहीं चन्द्रकला !
चाहिए समझ लेना जिसकी जो कीमत है,
खानेसे क्या बढ़कर भूखकी ही इज्जत है ?
हाँ री बन्नो, तेरी वह चाँदीकी थी कंघी नई,
देखती हूँ जूड़ेमें तो लगी नहीं, कहाँ गई ?
बन्नो— अरे वही खेतूकी जो बेटी है, बिचारी बड़ी,
रोने घिघियाने लगी, कंघी मुझे देनी पड़ी ।
मीरो— अरे रे, यही तो सत्यानाशी कर डाली गई ।
तुमको भी हवा दातापनेकी क्या लगी नई ?
बन्नो— कुछ भी तो पासमें बिचारीके नहीं है, मासी !
मीरो— तुम्हीं कौन कहींकी हो बड़ी धन्ना-सेठ खासी ?
करना गरीबोंपर दया तो मुसीबत है,
बड़ा-भारी रोग है, बहुत बड़ी आफत है ।

नहीं नहीं, रहो जाके अपनी माके ही घर,
हवा - पानी यहाँका न सकोगी सहन कर।
रानी चाहे जितना दें, उनका भण्डार भरा ;
दान करें, उनका न होगा नुकसान जरा।
किन्तु तू जो दे चुकी है, वही तेरा हुआ कम,
तेरे नहीं मनमें क्या इसका भी कोई गम ?
अरी मूर्ख लड़की, मैं दया कर तुझपर
ले आई थी तुझे यहाँ सिर्फ यही सोचकर,
माँगी जाती कैसे औ' बटोरी जाती कैसे भीख,
मेरे पास रहके तू विद्या यह लेगी सीख।
किसे था मालूम, पेट भरने लगेगा ज्यों ही,
मरनेको उलटा ही पाठ तू पढ़ेगी त्यों ही।
पेंदेमें कटोरेके क्यों दूध वह गया छूट ?
गलेसे उतरता क्या अब नहीं एक घूंट ?
मेरे मर जानेपर कर लेना मन-भाया
दान-पुण्य व्रत-ध्यान जप-तप दया-माया।
जब तक जिन्दा हूं, न धाँधली मचाने दूँगी ;
इन सब बातोंकी मैं फाँसी न लगाने दूंगी।
खा-पी चुकीं, रात हुई, हो रही अबेर अब,
जाओ, तुम लोग सोओ, करो मत देर अब।

[बन्नो कन्नो काशीका प्रस्थान

[कल्याणीका प्रवेश]

मीरो— रानी-दीदी, मैं तो मर जाऊँगी, बचूंगी नहीं।

कल्याणी— ऐसी बातपर तो यकीन मैं करूँगी नहीं।
आफत क्या ऐसी आई, सुनूं भी तो बात वह।

मीरो— खाती हूं सौगन्द, बात हँसीकी नहीं है यह।
देशसे मामाने लिखा, 'चाची हैं बीमार पड़ी,

इस बार उनकी बीमारी है बड़ी ही कड़ी।'
राम जाने, चाची मेरी बचेंगी या नहीं, हाय,
पैसा नहीं पासमें, इलाज कैसे किया जाय ?

कल्याणी— मीरो, अभी बीतने हैं पाया नहीं साल-भर,
लिये थे रुपये तूने चाचीके ही श्राद्धपर।

मीरो— हाँ हाँ, याद आया मुझे, चाची मर चुकीं कभी;
वे तो जाती रहीं, पर ताई तो हैं जिन्दा अभी।
आहा, रानी-दीदी, तुम धन्य हो, मैं देती दाद,
इतनी-सी बातकी भी तुमको है बनी याद।
गजबकी बुद्धि ऐसी किसीकी भी होगी नहीं,
बचता है नजरोंसे कुछ भी तुम्हारी नहीं।
तुम्हें धोखा देके जिन्दा फिरसे हो जाय कहीं,—
चाची तो क्या, चाचीके है बापकी मजाल नहीं।
पर यह याद रखो, भूल मत जाना कहीं,
ताई जो है मेरी, वह आगे कभी मरी नहीं।

कल्याणी— मरी भी है नहीं कभी, जन्मी भी है नहीं कभी।

मीरो— ऐसी है तुम्हारी बुद्धि, ताड़ लेती बातें सभी।
मैं जो हूँ तुम्हारे ही अधीन, तो मेरी ही बेला
रानी-दीदी, उस तीखी बुद्धिका है आता रेला ?

कल्याणी— कटके क्या जीभ गिरे, सीधे तौर माँग जो ले।
चले क्या न काम तेरा, यदि तू न झूठ बोले ?
झूठ खुल जाता, तो भी तुझे नहीं झेंप आती।

मीरो— गत 'दे दो, दे दो' की न मुझसे बजाई जाती,
एक बात रोज-रोज कानोंको है नहीं भाती,
तभी चाची ताई बीच-बीचमें जन्माई जातीं।
तुमसे न छिपा कुछ। फिर क्यों शर्मातीं मुझे ?

कल्याणी— तू ही बता, माँगनेसे कब नहीं मिला तुझे ?

मीरो— चाहे क्यों न चिड़िया मरी ही हुई होवे, पर
बिल्ली उसे खाती है तो खाती है शिकार कर।
सहजों ही पाती तो भी झाँसा दिया करती हूं,
अपने स्वभावपर यों ही सान धरती हूं।
काम बिना-कामके भी जिससे है लिया जाता,
काम पड़ जानेपर वह बड़ा काम आता।
सच तो यही है,– काम झूठसे है बन जाता।
तुमसे भी झूठ बोल काम है निकल आता।

कल्याणी— अब यों न निकलेगा काम।

मीरो— अच्छा यों ही सही,
इसके लिए ही तो उतावली न मैं हो रही।
चाहती जो लेना, आज नहीं, कल पाऊँगी ही,
तब तक धीरज तो मनको बँधाऊँगी ही।
चरण तुम्हारे छूके खाती हूं सौगन्द अभी,
कोई चर्चा चाचीकी चलाऊँगी न फिर कभी।

[कल्याणीका हँसते-हुए प्रस्थान

मीरो— भज मन राम। कुछ किसीसे वसूलें हम,
इसमें है बड़ा मजा, दिक्कत भी नहीं कम।
हे मा लक्ष्मी, उल्लू वह वाहन तुम्हारा जो है,
कैसी इस घरकी पसन्द हवा उसको है!
कैसा वह आस-पास चक्कर लगाता यहीं।
अरे किसी दिन भूले-भटके जो वह कहीं
पीठपर तुमको चढ़ा ले आये मेरे घर,
पूज उसे, सेंदुर चढ़ाऊँगी मैं माथेपर,
भोग अस्सी चुहोंका लगाऊँगी, जो खाके बेटा
भारी पेट फुलाके रहेगा मेरे द्वार लेटा।
सोनेसे मढ़ा दूँगी मैं पंख, वह होगा थिर,

उड़ भागनेकी राह बन्द हो जायेगी फिर।

[लक्ष्मीका आविर्भाव]

मीरो— रातको जलाने मुझे आई फिर कौन और ?
देश छोड़ भागना क्या होगा किसी और ठौर ?
मैं तो आरी आ गई हूं।

लक्ष्मी— तो क्या लौट जाऊँ अब ?
दूर जानेवाली हूं मैं। कदम बढ़ाऊँ अब ?

मीरो— नहीं नहीं, रुको जरा, बैठ जाओ पल-भर।
यह क्या पहन रखा तुमने है सिरपर ?
लगता है हीरेके मुकुट-सा चमकदार।
सोनेके सन्दूक-सा क्या हाथमें भड़कदार ?
क्या मैं देख सकती हूं इसमें है क्या-क्या भरा ?
अच्छा, अभी रहने दो। हीरा मोती सोना खरा,
इतना तो किसीके भी पास नहीं देखा कभी !
गिलटीके पानी-चढ़े गहने तो नहीं सभी ?
असली ये पत्थर हैं सारे, तुम्हीं कहो भला ?
बदनमें लगा क्या है, कौन-सा है इत्र मला ?
कमलकी गन्ध कैसी भीनी-भीनी आ रही है !
मनमें सन्देह यह कितने ही ला रही है।
बैठो बेटी, आई हो क्यों रात ऐसी जादा कर ?
आई तो न ठगनेका मुझको इरादा कर ?
ऐसा जो इरादा हो, तो मुझे नहीं जानती हो,
मीरोको बखूबी तुम नहीं पहचानती हो।
पूछती हूं, नाम क्या है, सच-सच बता देना,
देती हूं कसम तुम्हें, झूठसे न काम लेना।

लक्ष्मी— एक हो तो कह दूँ, हैं मेरे तो अनेकों नाम।

मीरो— जिन कारबारियोंका धोखाधड़ी देना काम,
रख लेते अपने वे कितने ही फर्जी नाम।
पकड़ी क्या गई नहीं, ऐसी तुम सिद्धकाम ?

लक्ष्मी— पकड़ी तो जाती हूं मैं, किन्तु चार दिनको ही।
बन्धन तुड़ाके फिर हो जाती स्वाधीन यों ही।

मीरो— छोड़के पहेलीका बुझाना सीधी बात करो,
वर्ना होगा बुरा, मेरी बातपर ध्यान धरो।
बिना छल-कपटके नाम क्या तुम्हारा, कहो।

लक्ष्मी— नाम मेरा लक्ष्मी।

मीरो— ठीक सूरत भी वैसी अहो !
एक-दो क्या, कितनी ही लक्ष्मी भरीं पृथ्वीपर,
कहाँकी हो तुम, साफ-साफ कहो खोलकर।

लक्ष्मी— सच्ची लक्ष्मी एक 'तीनों लोक' में है, जादा नहीं।

मीरो— ठीक ठीक ठीक, यह बात ठीक कह रहीं।
अच्छा तो क्या तुम्हीं लक्ष्मी ? यह न थी जानती मैं।
जान-चीन्ह थी ही नहीं, कैसे पहचानती मैं ?
चरण-युगलसे जो जान-चीन्ह होती कहीं,
मेरे ऐसे जले-भुने फूटे भाग होते नहीं।
आई हो तो घर मेरा करो उजियाला, मैया,
कहो हाल-चाल, मेरे अच्छे तो हैं घुग्घू-भैया ?
अब जब आ गई हो, जल्दी नहीं जाने दूँगी।
चरणोंकी सेवाका जुगाड़ पूरा बैठा लूंगी।
पाले किसी सीधीके न पड़ीं तुम इस बार।
चतुरोंके लिए नहीं खोलतीं दयाका द्वार,
बुद्धुओंके ऊपर ही करती हो कृपा न्यारी।
ऐसा क्यों है, जानती हूँ, विष्णुकी हे प्राणप्यारी !
जिसमें है बुद्धि, वह मरता है भूखों नहीं;

आफत है मूर्खोंकी ही, रक्षा जो न करो कहीं।

लक्ष्मी— धोखाधड़ी देके तुम पेट भरा करती हो,
करनेसे अधर्म क्या रत्ती-भर डरती हो?

मीरो— बुद्धि जहाँ देखती हो, कदम बढ़ाती नहीं,
माता, बुद्धिमानोंपर दया दिखलातीं नहीं,
पेटकी ज्वालाका क्या उपाय बुद्धिमान करें?
ठगें लक्ष्मीवानोंको नहीं, तो कैसे पेट भरें?

लक्ष्मी— सीधी-सादी बुद्धिको मैं प्यार किया करती हूँ,
टेढ़ी-बाँकी बुद्धिको धिक्कार दिया करती हूँ।

मीरो— उम्दा तलवार होती तिरछी औ' बाँकी जैसे
पोढ़ी बुद्धि होती तीखी चोखी और पोखी वैसे।
बहुत सरल सीधी-सादी बुद्धि जो है पाता,
बुद्धिहीन मूर्ख बुद्धू उसीको है कहा जाता।
अच्छा तो, मा, दयाका भरोसा यदि पाऊँगी मैं,
बुद्धिको तिलाञ्जलि दे बुद्धू बन जाऊँगी मैं।

लक्ष्मी— कल्याणी-सी स्वामिनीकी दासी कहलाती है तू,
उनको भी ठगनेसे बाज नहीं आती है तू!

मीरो— आखिरको भाग्यने दिखाया बस यही जोर,
जिसके ही लिए करूँ चोरी, वही कहे, 'चोर'!
भाग्यका ही दोष है कि करनी है होती ठगी,
रहती हूँ क्योंकि मैं तुम्हारे प्रेममें ही पगी।
सुखकी लो नींद, अब किसीको ठगूँगी नहीं,
ठगके मुझे ही चली जाना तुम भी न कहीं।

लक्ष्मी— लगता स्वभाव है तुम्हारा तो बड़ा ही रूखा।

मीरो— क्योंकि दुखियारी हूँ मैं, पेट मेरा भूखा-सूखा।
दयाका तुम्हारी कहीं रस जो बरस जाय,
तो स्वभाव मेरा भी मिठाससे सरस जाय।

लक्ष्मी— होता है सन्देह मुझे, यदि दूँ शरण तुझे,
सच्चा यश मिलेगा भी या नहीं मिलेगा मुझे।

मीरो— जिससे न मिले तुम्हें यश वह कैसा पैसा ?
चाहिए कि डूब मरूँ जो हो मेरे ऐसा पैसा।
दस भूखे - नङ्गोंके जो मुँहमें मैं दूँगी अन्न,
क्यों न फिर कहेंगे वे, 'वाह-वाह, धन्य-धन्य !'

लक्ष्मी— पैसा पाके भीख क्या दे सकेगी जी खोलकर ?

मीरो— देके एक बार देख लो न जाँच-तोलकर।
बाद पेट भरनेके अपना, जो रहे पड़ा,
उसको दे डालना भी कौन-सा है काम बड़ा ?
रानीजी दानके घमण्डमें हैं चूर ऐसी,
उनकी-सी मैं हो जाऊँ, वे हो जायँ मेरे जैसी,
तब रानीजीकी देख लेना चाल-ढाल तुम,
देख लेना मेरे भी स्वभावका कमाल तुम।
मैं हूँ नौकरानी, नौकरानी ही की चाल जानी,
रानी बना दोगी तो स्वभावमें भी हूँगी रानी।
उनकी भी मेरे जैसी हालत बनेगी जब,
नामवरी उन्हें बड़ी महँगी पड़ेगी तब।
औरोंपर दया तब उनके न किये होगी,
वह दया खर्च फिर अपने ही लिए होगी।
बातें अभी उनकी हैं कितनी मिठास-भरी,
वे ही बातें होंगी तब बहुत खराश-भरी।
उनके न जीसे कभी कौड़ी एक निकलेगी,
चिपकी ही रहेगी हथेलीमें, न सरकेगी।
पैरों गिर-गिर भीख माँगनी पड़ेगी तब,
नित्य नये-नये छल-छन्द वे रचेंगी तब।

लक्ष्मी— अच्छा जा, ऐसा ही होवे, तुझे बना दिया रानी।

लोग भूल जायेंगे कि तू थी कभी नौकरानी।
किन्तु, सावधान रह, चूक कहीं हो न तेरी,
मेरा अपमान न हो, आँखें न हों नीची मेरी।

द्वितीय दृश्य

रानीके वेशमें मीरो और उसकी सभा-सदस्याएँ

मीरो— बन्नो!

बन्नो— क्या है मासी, कहो।

मीरो— 'मासी' क्या री, मैंने कहीं
तेरे जैसी बेवकूफ लड़की ही देखी नहीं।
कंगले गवाँर तेली धोबी घसियारे पासी,
ऐसे लोग मासीको पुकारते हैं सिर्फ 'मासी'।
तेरे अहोभाग्य हैं कि रानीकी तू भानजी है,
जानती अदब नहीं? मालती!

मालती— क्या आज्ञा की है?

मीरो— रानीको पुकारेगी क्या भानजी हो रानीकी जो,
अहमक लड़कीको यह जरा सिखा दीजो।

मालती— छिछि, क्या रानीको सिर्फ 'मासी' कहा जाता कभी?
कहा जाता 'रानी-मासी', सीखो, याद करो अभी।

मीरो— रहेगा तो याद तुझे? कहाँ चली गई काशी?

काशी— क्या आज्ञा है, रानी-दीदी?

मीरो— तेरे चार-चार दासी,
साथमें क्यों नहीं कोई?

काशी— नाहक क्यों मुझे घेरे
दासियाँ ये दिन-रात फिरें आगे-पीछे मेरे?

मीरो— मालती!

मालती— हुजूर।
मीरो— इस छोकरीको बता दे तू,
इतनी क्यों दासियाँ हैं रखी जाती, जता दे तू।
मालती— तुम नहीं मछुई जुलाहिन गवाँरिन हो
तुम एक रानीकी बहन बेटी नातिन हो।
करती थी नौकरी नवाबके यहाँ मैं जब,
बेगमने न्योली एक पाली रही वहाँ तब।
न्योलीके था बच्चा एक, रहीं उस बच्चेपर
चार - चार दासियाँ, सिपाहियोंको छोड़कर।
मीरो— सुन लीं तो कान खोल, काशी, तूने बातें सब?
काशी— सुन ली हैं।
मीरो— अच्छा तो बुला ले दासियोंको अब।
अरी जलमुँही कन्नो!
कन्नो— रानो-चाची, मैं हूं यहीं।
मीरो— मैंने ली उबासी, तूने चुटकी बजाई नहीं!
मालती!
मालती— हुजूर।
मीरो— सिखा इसे कि है कायदा क्या।
मालती— इतना सिखाती हूँ मैं, पर होता फायदा क्या?
बेगम साहिबा जब छींकती थीं, तब कहीं
चुटकीकी भूल हो तो किसीकी थी खैर नहीं।
जिसकी हो भूल उसे सूली चढ़ा सालती थीं,
नाकमें दे सींक छिका-छिका मार डालती थीं।
मीरो— सोनेके डब्बेमें पान, तारिणी, तू ले आ यहाँ।
अरे, मेरी चवँर डुलानेवाली गई कहाँ?
तारिणी— छोकड़ी तो चली गई, करती थी यही गिला,
'माँग-माँग हारी मैं, महीना मुझे नहीं मिला।'

मीरो— नीच तोतेचश्म छोटी जातकी हरामजादी
बन गई किस्मतसे रानीकी ही निजी बाँदी,
तो भी उसे जीमें नहीं जरा भी तसल्ली मिली,
उलटे ही दोष मढ़ा, नहीं जो रुपल्ली मिली!
होते पंख चिउँटीके, होती जब मरनेको।
मालती!

मालती— हुजूर, हुक्म?

मीरो— उसको पकड़नेको
दौड़ा दो छै प्यादे मेरे एकसाथ इसी दम।
दो सिपाही और दे दो। इतने न होंगे कम।
मालती, क्यों ठीक है न?

मालती— हुक्म तो है ठीक सभी।

मीरो— हथकड़ी डाल बाँध लाना होगा उसे अभी।

तारिणी— परले मोहल्लेवाली, मोती नाम जाहिर है,
रानी-माताजीके हुई चरणोंमें हाजिर है।

मीरो— मालती!

मालती— हुजूर।

मीरो— क्या दस्तूर है नवाब-घर,
होतीं मुलाकातें क्या तरीका अख्तियार कर?

मालती— लोग आते कोरनिश करते नवाये सिर,
और पीछे हटते हैं छू-छूके जमीन फिर।

मीरो— तुम्हीं लाओ उसे, देखो, वह नहीं गाफिल हो,
कोरनिश करती ही हुई मोती दाखिल हो।

[मालतीका प्रस्थान

[मोतीको साथ लिये मालतीका पुनःप्रवेश]

मालती— नीचा करो माथा, फिर हाथसे जमीन छू लो,
नाकसे लगाओ हाथ, यह कभी मत भूलो।

सिर झुका तीन पैर आगे बढ़ो, सीखो लूर।
मोती— होता नहीं, क्या-क्या करूँ, गर्दन तो हुई चूर।
मालती— तीन बार नाक छुओ हाथसे, न करो देरी।
मोती— गठियासे कर रही टप-टप पीठ मेरी।
मालती— तीन-तीन पैर तीन बार आगे जाओ फिर,
धूल उठा नोकपर नाककी लगाओ फिर।
मोती— घोर अपराध हुआ मेरा आज आना यहाँ,
इससे तो अच्छा होता नाक रगड़ाना यहाँ।
जय रानी माताजीकी! मैया, एकादशी आज।
मीरो— पत्रा तो सुना गये रानीको ज्योतिषीराज।
कब एकादशी, कब कौन वार, कौन योग,
इसको बतानेवाले मैंने रख छोड़े लोग।
मोती— रुपया अधेली पैसा कुछ भी तो आज पाऊँ,
जय-जयकार मैं मनाती-हुई चली जाऊँ।
मीरो— चले तो जाना ही होगा चाहे कुछ न भी पाओ,
अच्छा, करो कोरनिश, सीधी राह चली जाओ।
मोती— रुपये घड़ेके घड़े घरमें लुढ़क रहे,
प्राण कौड़ी-कौड़ीमें हैं फिर भी अटक रहे!
मीरो— रुपये थे मेरे, मैंने अपने हैं भरे घड़े।
राम करे सदा मेरे घरमें ये रहें पड़े।
मालती!
मालती— हुजूर।
मीरो— इस औरतका हाथ धरो,
कोरनिश कराके ले जाओ, इसे दूर करो।
मोती— अच्छा तो मैं चली अब।
मालती— ठहरो, न यों ही जाओ।
तीन बार नाकमें लगाओ धूल, यहाँ आओ,

तीन पैर पीछे हटो, सम्हलके पैर धरो,
लुढ़क न जाना, देखो, माथा और नीचा करो।

मोती— हाय, आज कहाँ आई, पेटको न पाई पाई,
सिर मेरा नीचा हुआ, मुँहकी ही मैंने खाई।
आहा, कभी जाओ यदि रानी कल्याणीके घर,
कान सुख पाते कैसे मीठे बोल सुनकर!
उनकी दी-हुई एक कौड़ी अनमोल होती,
धूलके समान हैं यहाँके हीरे पन्ने मोती।

मीरो— वैसी धूल पानेके भरोसे मत भूली रहो।

मालती— सम्हलके पीछे हटो, गिरो मत, औंधी न हो।

[मोतीका प्रस्थान

मीरो— बन्नो!

बन्नो— जी हाँ, रानी-मासी।

मीरो— तू क्या कहीं छली गई?
हाथकी क्या तेरी एक चूड़ी चोरी चली गई?

बन्नो— नहीं, चोरी नहीं गई।

मीरो— तो क्या तूने खो डाली है?

बन्नो— खोई नहीं।

मीरो— किसीने क्या ठग ली है, दबा ली है?

बन्नो— नहीं, रानी-मासी, नहीं।

मीरो— यह तो है मानी बात,
'पंख नहीं चूड़ीके हैं'। कोई तो है वारदात।
या तो वह चोरी गई, या तूने ही खो डाली है,
या किसीने ठग ली, या माँग ली, या दबा ली है।
जो न हुई कोई बात, मैं तो नहीं पाती थाह,
चूड़ीके जानेकी फिर कौन-सी है और राह?

बन्नो— चूड़ी मैंने दान की है।

मीरो— चूड़ी तूने दान की है ?
इसके तो माने हैं किसीने चूड़ी ठग ली है।
बता, किसे दी है तूने ?

बन्नो— मल्लिकाको। रानी-मासी,
बड़ी ही गरीब है विचारी दुखियारी दासी।
घरमें हैं बच्चे सात, पालना तो होगा पेट,
पाँच-छै महीनेसे तलबसे न हुई भेंट।
खर्च - वर्च घरमें बिचारी नहीं भेज पाती,
देनदारी दिनों-दिन सिरपर चढ़ी जाती।
कलप - कलपकर प्राण दिये देती रही,
हाथसे उतार मैंने दे दी एक चूड़ी वही।
चूड़ियोंसे हाथ मेरे लदे तो हैं एकदम,
क्या अन्धेर हो गया जो हो ही गई एक कम ?

मीरो— अहमक बेटीकी सफाई सुनो डींग - भरी !
एक चूड़ी गई, घाटा एकका तो हुआ, अरी,
कौन इस बातकी सचाई नहीं मानता है ?
ऐसी सीधी-सादी बात कौन नहीं जानता है,
रखोगी जो चीज तुम वह रह जायगी ही,
फेंकोगी जो चीज तुम वह बह जायगी ही।
जिनके न पास कुछ, पेट जो न भर पाते,
उनके ही दानका सुयश सब लोग गाते।
धनियोंके दानका सुफल नहीं फल पाता,
जितना दो उतना ही मुंह है फैलाया जाता।
कुछ भी दो, लोगोंकी हविस नहीं पूरी होती।
'और भी तो दिया होता'— दुनिया है यही रोती।
बेटी, अब आइन्दाको होशियारी कीजियो तू,
जादा भी हो पास तो खैरात मत दीजियो तू।

मालती !

मालती— हुजूर।

मीरो— यह अहमक लड़की है।

इसे समझाओ, नहीं बुद्धि कौड़ी कामकी है।

मालती— रानीकी जो भानजी है रानीका है खून-पानी ;

नीचोंसे रहेगा दूर राजकुल धनी-मानी।

दान - पुण्य करनेमें जितना फँसोगी तुम,

घुसी-पिसी उतनी गरीबोंमें रहोगी तुम।

देख लो, है लिखा सभी शास्त्रों औ' पुराणों बीच,

'जगमें गरीबके समान नहीं कोई नीच।'

मीरो— मालती !

मालती— हजूर।

मीरो— नहीं मल्लिकाको रखूँगी मैं।

मालती— उसको जवाब दिये देती हूँ, हटा दूँगी मैं।

बच्चोंमें बढ़ेगी दान-दयाकी जो ऐसी चर्चा,

उसीके हिसाबसे तो बढ़ने लगेगा खर्चा।

मीरो— उसको हटाती बेला होके अनमनी कहीं

कड़ेकी जोड़ीके साथ बिदा कर देना नहीं।

कौन लोग राहमें हैं बाँसुरी बजाते,—जाये

मेरी कहाँ दासियोंमें कोई यह देख आये।

[तारिणीका प्रस्थान और पुनःप्रवेश]

तारिणी— मधुके पोतेकी इसी ओरसे बारात जाती,

बाजे-गाजे साथमें हैं, उन्हींकी आवाज आती।

मीरो— रानीके महलके ही सामने गजब ढाते !

कौनसे कानूनसे बजाते - हुए बाजे जाते ?

बाँसुरीका बजना क्या रानीसे है सहा जाता !

दुखता जो होता सिर, चक्कर जो कहीं आता,

कच्ची नींद होती कहीं, आँख खुल जाती कहीं,
गुस्सा आता, गुस्सेसे बीमारी आ दबाती कहीं,
तो क्या होता ? मालती !

मालती— हुजूर ।

मीरो— हाँ, नवाब-घर
होती है क्या कार्रवाई ऐसी वारदातपर ?

मालती— दूल्हेको पकड़ लाते, दो बाँसुरीवाले आते,
कानोंमें दूल्हेके लगा बाँसुरी बजाते जाते ।
तीन दिन तक यों ही बाँसुरी बजाई जाती,
चौथे दिन दूल्हाजीको फाँसी दिलवाई जाती ।

मीरो— अभी बुलवाओ, देखो, गया सरदार कहाँ ?
कह दो, ले जायें दस कोड़ेबरदार वहाँ,
हरेक बरातीकी ही पीठपर दस - दस
कस - कस सपासप चाबुक जमायें बस ।

मालती— इससे न होश हों दुरुस्त तो बन्दूकधारी
साथमें ले जायँ, भूल जायगी सिटळी सारी ।

पहली— फाँसी हुई माफ, लोग मरनेसे बचकर
रानीकी मनाते जय, नाचते जायेंगे घर ।

दूसरी— इनके थे ग्रह अच्छे, सङ्कट है टल गया,
चाबुककी मार तो है रानीकी अपार दया ।

तीसरी— कह क्या रही हो ! आई-हुई मौत लौट गई,
रानीने क्या दया की है, आहा, रानी दयामयी !

मीरो— चुप भी हो, सुनकर अपने गुणोंके गान
शरमसे लाल - लाल हो जाते हैं मेरे कान ।
बशो !

बशो— जी हाँ, रानी-मासी ।

मीरो— निचली हो, बेशऊर !

चुलबुल करना बेअदबी है, सीख लूं।
मा[illegible]

मालती— हुजूर, हुक्म ?

मीरो— अभी तक बैठ कहीं
सीखी लड़कियोंने अमीरी तहजीब नहीं।

मालती— (बच्चोंसे) लड़के औ' लड़कियाँ रानीके घरानेके जो
यदि चिलबिल्ले हुए, होती बदनामी है तो।
नीच छोटे लोग हैं जो, जिनके हैं नीच कुल,
करते वे खेल - कूद, दौड़धूप, शोरगुल।
लड़के औ' लड़कियाँ राजा - रानीके जो होते,
किसी चीजके भी लिए धीरज हैं नहीं खोते।
हाथ-पैर थिर रखो और सीधी खड़ी रहो,
रानीजीके सामने न हिलो-डुलो, गड़ी रहो।

मीरो— कौन लोग मचा रहे गोलमाल फिर अब ?
कहाँ दरवाजेके हैं पहरे औ' चौकी सब ?

तीसरी— करनेके लिए फरियाद यहाँ प्रजा आई।

मीरो— मरनेके लिए और जगह क्या नहीं पाई ?

मालती— प्रजाकी शिकायत भी सुननी रानीको पड़े,
अदने नाचीजोंके क्या हुए भाग्य ऐसे बड़े !

पहली— यदि ऐसे कामोंका भी रानी ही उठायें भार,
किसलिए नौकर औ' चाकर हैं बेशुमार ?

दूसरी— राज्यपर अपने नजर आप रहें किये,
राजा-रानी नहीं हैं बनाये गये इसलिए।

तारिणी— प्रजाका है कहना कि 'रानीजीके कर्मचारी।
हमें हैं सताते खूब, बड़े ही हैं अत्याचारी,
दया नहीं, माया नहीं, धर्मसे न लेना-देना ;
चाहते हैं देहके भी चामको उधेड़ लेना।'

कहते हैं प्रजाजन, 'ऐसा क्या पाप किया,
हम-से नाचीजोंको क्यों इतना सन्ताप दिया ?'

मीरो— नाचीज सरसों भी क्या देती तकलीफ नहीं ?
बिना पेरे गये भला देती वह तेल कहीं !
रुपया क्या पका फल, लगा किसी डालपर,
आँचलको भर देगा टप-से टपक कर ?
वह ऐसा फल जिसे तोड़ झकझोरकर
लाठी मार-मार लाना होता है जमीनपर।

तारिणी— ऐसी बात नहीं, माता! प्रजाका इरादा नहीं
कि न दें खिराज या कि मार लें लगान कहीं।
उसका है कहना कि 'राज्यके ये अहल्कार
तलब तो पाते नहीं, करते हैं अत्याचार।
करते हैं लूट-मार, पीटते प्रजाको कहीं।
तलब जो पाते रहें, ऐसा वे करें ही नहीं।'

मीरो— रानी हूँ जरूर, पर इतनी नादान नहीं;
किसीका भी मुझे धोखा देना है आसान नहीं।
तलब दो या न दो, वे निजी चाल चलेंगे ही,
अपनी वसूली लूट-मारसे तो करेंगे ही।
करते डकैती हैं रिआयाके घरोंमें जाके,
तो क्या डाका डालेंगे वे रानीके यहाँ भी आके ?

तारिणी— कहती है प्रजा, 'अच्छी रानी कल्याणीकी चाल,
करती हैं अपनी प्रजाकी आप देखभाल;
अपने ही कानों फरियाद आप सुन लेतीं,
अपनी रिआयापर जुल्म नहीं होने देतीं।'

मीरो— छोटे मुँह बड़ी बात मुझको सुनाई जाती,
मेरे साथ दूसरोंकी निस्बत लगाई जाती!
मालती!

मालती— हुजूर।
मीरो— होगा करना क्या बेहतर ?
मालती— एक-एक सौका जरीमाना हो गवाँरोंपर।
मीरो— हैं तो वे गरीब, मर जायँगे वे हुक्म पाके;
पूरे सौ रुपये भला देंगे वे कहांसे लाके ?
इसलिए नब्बे मैंने कर दिये माफ आप।
पहली— आहाहा, गरीबोंकी हो तुम्हीं बस माई-बाप !
दूसरी— उठे थे वे किसका सबेरे मुँह देखकर,
हाथों-हाथ हाथ मारा नब्बे टकसालीपर !
तीसरी— नब्बे ही क्यों ? सोचें जो वे गौरसे हिसाब कर,
ले गये बहुत जादा टेंटमें ही दाबकर।
रुपये हजारमें हैं नौसौ, नब्बे माफ किये,
पलक झपकतेमें सबोंने ये ऐंठ लिये।
चौथी— एकदम इतना दे देना हँसी-खेल नहीं।
इतना क्या निकलेगा किसीके भी जीसे कहीं ?
मीरो— किया करो मेरी न बड़ाई मेरे मुंहपर;
मैं तो शर्मा जाती हूं तारीफें ऐसी सुनकर।
बन्नो !
बन्नो— जी हां रानी-मासी।
मीरो— एकाएक क्या हो गया ?
क्यों लगी बिसूरने तू ? दुःख क्या आ पड़ा नया ?
हुई मैं हैरान बक-बोलकर दिन-रात,
कायदे-कानूनकी न सीखी तूने एक बात।
मालती !
मालती— हुजूर।
मीरो— यह कायदा सीखेगी नहीं,
कुनबेकी मेरे कोई इज्जत रहेगी नहीं।

मालती— रानीकी जो भानजी हो, वह बड़ा मान पाती ;
सीधी-सी तो बात है, क्या समझमें नहीं आती ?
अदने गवाँर लोग सुखमें दिखाते दाँत,
अँसुए बहाते जब दुःखकी हो कोई बात।
उन्हींका-सा हो जो रोग हँसने-रोनेका तुम्हें,
फायदा क्या हुआ बड़े-आदमी होनेका तुम्हें ?

[एक दासीका प्रवेश]

दासी— तलबसे भेंटा नहीं, नौकरी है नाहककी।
मैंने बाली कानकी लाचार अभी बन्धक दी।
किसीकी गुलामी करूँ, किसीसे ले कर्ज खाऊं,—
ऐसा नहीं देखा-सुना, कहाँ मैं मिसाल पाऊं ?
तलब चुका दो मेरी, कहाँ तक रोऊं-गाऊं,
या नहीं तो छुट्टी दे दो, अपने मैं घर जाऊं।

मीरो— तलब चुकाना कुछ बुरा नहीं, पर तुझे
नौकरीसे छुट्टी देना जादा है पसन्द मुझे।
तलबका बाँटना तो झंझटका काम होता,
जोड़ बाकी गुणा भाग करना तमाम होता।
नौकरी छुड़ानेका तो काम होता चटपट,
झंझट हिसाबकी न खातेकी ही खट-खट।
मेरे कहीं प्यादे आके खींचते हैं झोंटा जहाँ,
पल-भरमें ही खत्म नौकरी है होती यहाँ।
मालती !

मालती— हुकुम ?

मीरो— इसे साथ लेके अभी आओ,
नंगा-झोरी लेके बस बाहर निकाल आओ।
दरवानी कायदेसे खूब देखभाल कर

छोड़ें दरवान इसे हरएक ड्योढ़ीपर।

मालती— जी हुजूर, समझी मैं।

मीरो— मुँह न दिखाये यह।

कोरनिश करती ही हुई चली जाय यह।

[कोर्निश कराके दासीको लेकर मालतीका प्रस्थान

[एक दूसरी दासीका प्रवेश]

दासी— रानी-माके दर्शनोंको ड्योढ़ीपर कोई आई,

जान पड़ती है किसी बड़े-आदमीकी दाई।

मीरो— हाथीपर आई है या रथपर आई वह ?

दासी— लगता है, पैदल ही चलकर आई वह।

मीरो— फिर किस बातसे बड़प्पन झलकता है ?

दासी— रानीके समान मुँह उसका दमकता है।

मीरो— बड़ापन लिखा नहीं रहता है मुँहपर,

वह पहचाना जाता गाड़ी - घोड़ा देखकर।

[मालतीका प्रवेश]

मालती— आई रानी कल्याणी हैं मिलनेको, चलकर,

हुकुमका आसरा है, खड़ीं दरवाजेपर।

मीरो— आई हैं क्या पैदल ही ?

मालती— यही तो सुनाई देता।

मीरो— फिर क्या उपाय करूँ, नहीं समझाई देता।

कुर्सी दूँ बराबरीकी,— यह नहीं होगा कभी ;

नीचे जो बैठाऊँ उन्हें, मानेंगे अन्याय सभी ;

बड़े पशोपेशका है सामने सवाल आया,

कौन इसे हल करे, यह तो बबाल आया।

पहली— बीचों - बीच रानीजीकी ऊँची गद्दी रखकर

कल्याणीको बैठा दिया जाय यदि दूरपर ?

दूसरी— गद्दीको घुमाके रख दिया जाय,— उसपर
रानी-माता बैठ जायँ यदि पीठ फेरकर ?

तीसरी— यदि कह दिया जाय, 'आज तुम लौट जाओ,
अच्छा है मिजाज नहीं, फिर किसी दिन आओ' ?

मीरो— मालती !

मालती— हुजूर ।

मीरो— क्या उपाय अब किया जाय ?

मालती— यदि खड़े होकर ही मिल-भेंट लिया जाय,
सारा गोलमाल मिटे, फिक्रसे हो जाओ बरी।

मीरो— ऐसी अक्लमन्दी भी क्या पेटमें है तेरे भरी !
अच्छी बात। सामने आ खड़ी होवें दम साध
एक सौ पचीस मेरी बाँदियाँ कतार बाँध।
ठीक नहीं हुआ। पाँच-पाँचकी कतार बन
टुकड़ोंमें बँट जायँ, खड़ी रहें सीधी तन।
तुम सब आगे आओ, इसी ओर, ऐसे न हो,
ऐसे मेरे सामने कतारोंमें ही खड़ी रहो।
ऐसे नहीं, तुम सब मेरा मुँह छेक रहीं।
कोना-कोनी तिरछी हो, देखूँ, हाँ हाँ, रहो वहीं।
अच्छा, एक दूसरीका हाथ धरे, सटी-सटी
खड़ी रहो अकड़के जरा दूर हटी-हटी।
शशी, मेरे पास खड़ी रह छत्र धरकर।
तारिणी, तू चवँर डुलाती रह मुझपर।
मालती !

मालती— हुजूर ।

मीरो— मैं तैयार हूँ। हाँ, अब तू जा,
बुला अब कल्याणीको मेरे दरबारमें ला।

[मालतीका प्रस्थान

मीरो— कन्नो, बन्नो, काशी, रहो निःचली, न मुंह खुले !
देखना, खबरदार, कोई भी न हिले-डुले !
तुमलोग आओ, मेरे दोनों ओर खड़ी रहो
दो हिस्सोंमें बँटकर।

[कल्याणी और मालतीका प्रवेश]

कल्याणी— कहो, अच्छी तरह हो ?
मीरो— अपनी है कोशिश कि रहूँ अच्छी हर घड़ी,
दूसरोंकी कोशिश है मुझको दें धोखाधड़ी।
यही तो संसारकी है रीति चली आई सदा,
अपनेसे दूसरोंकी रहती जुझाई सदा।
कल्याणी— अच्छी तो हो बन्नो ?
बन्नो— हाँ मा, अच्छी ही तो रहती हूं।
सोने-सी तुम्हारी मूर्ति मलिन क्यों देखती हूं ?
मीरो— चुप, बन्नो ! मचा मत झूठ-मूठ गड़बड़।
आदत न गई तेरी, कर रही बड़-बड़ !
कल्याणी— रानी, मत ख्याल करो, कष्ट दिया चाहती हूं,
कुछ मैं अकेलेमें ही बात किया चाहती हूं।
मीरो— यहीं तो अकेला है, मैं और अब जाऊं कहाँ ?
मुझे और तुम्हें छोड़ दूसरा है कौन यहाँ !
ये तो सब दासियाँ हैं, इन्हें नहीं काम और,
रानीके ही आगे-पीछे फिरती हैं इसी तौर।
इनको मैं यहाँसे हटा दूँ यदि दूर कहीं,
देखा-सुना गया नहीं ऐसा तो दस्तूर कहीं।
मालती, क्या राय है ?
मालती— जी, कायदेकी बात यही।
चलना तो चाहिए दस्तूरके मुताबिक ही।

मीरो— दासी, देख, सोनेका है पानदान रखा कहाँ,
ला तो जरा इधर।

दासी— लो रानी-मा, है रखा यहाँ।

मीरो— अरे भाई, यह नहीं, वह जो है मोती-जड़ा,
उसीको मैं चाहती हूँ, देख जाके कहाँ पड़ा।

[दासीका दूसरा पनडब्बा लाना

मीरो— ढक्कनमें कत्थेका है दाग, लगा कैसे कब ?
जीने नहीं पाऊँगी जलापेसे तुम्हारे अब।
अच्छा, ले आ पानदान चुन्नीसे जो मढ़ा-हुआ।
नहीं नहीं, वह जो है पन्नेसे ही गढ़ा-हुआ।

कल्याणी— कह लूँ जो कहना है। छल औ' कपट कर
अन्यायी पठान बादशाहने है लिया हर
मेरा सारा राज-पाट।

मीरो— कह क्या रही हो यह !
तो क्या चला गया है गोपालपुर, और वह
गिरिधरपुर, औ' जो गाँव फूलबड़िया है,—
और हाँ कन्हैयागंज ?

कल्याणी— सभी-कुछ ले लिया है।

मीरो— बची कुछ हाथमें है नकद रकम खास ?

कल्याणी— सभी-कुछ छीन लिया, कुछ भी न मेरे पास।

मीरो— यही तेरे भाग्यमें था, भोगने ये दुःख पड़े !
गहने जो इतने थे हीरे-मोती-पन्ने-जड़े,
नीलमके कण्ठे तेरे बड़े - बड़े नगवाले,
बढ़िया कटावदार कानोंके जड़ाऊ बाले,
चुन्नीका था पँचलड़ा हार बड़ी कीमतका,
हीरेका था बन्दीबेना एक लाख लागतका—
ऐसे-ऐसे गहने थे, सभीको क्या लूट लिया ?

कल्याणी— टूट पड़ी फौज, हाथ सभीपर साफ किया।

मीरो— *आहा, सच कहा है कि 'धन जन और मान*
कमलके पत्तेपर जलकी तू बूँद जान।'
दामी-दामी बर्तन, पुराना जो सामान रहा,
उनका भी शायद है कोई न निशान रहा?
पहले जमानेके वे शाही ठाठ भारी-भारी,
आसा सोटा चवँर औ' छत्र औ' जड़ाऊ झारी,
तम्बू औ' कनात औ' चँदोये, सभी जाते रहे?
शास्त्रोंने जो वचन हैं कहे, नहीं झूठ कहे,
'बिजलीकी झलक-से होते धन-धाम सब।'
अच्छा तो बताओ जरा, रहती हो कहाँ अब?
घर तो बचा ही होगा?

कल्याणी— अब कहाँ मेरा घर!
महल दखल किया फौजने चढ़ाई कर।

मीरो— मुझे तो कहानी-सी सुनाई पड़ती है यह,
कल जो थी रानी, आज भीख माँग रही वह!
शास्त्रोंने इसीसे कहा, 'जगमें है सब माया,
धन-जन सब-कुछ ताड़-पेड़की-सी छाया।'
है न यही, मालती?

मालती— जी, ठीक ही है बात यह।
जादा ऊँचे उठेगा जो, गिरेगा ही नीचे वह।

कल्याणी— शरण तुम्हारे यहाँ यदि कुछ दिन पाऊँ,
खोया राज्य फिरसे उद्धारकर लौटा लाऊँ।
इसके सिवाय और सूझता उपाय नहीं।

मीरो— आहा, रहा चाहती हो मेरे पास तुम यहीं!
बड़ी अच्छी बात यह, खुशी हुई सुनकर।

पहली— आहा, क्या ही रानी-माकी दया हुई इनपर!

दूसरी— आहा, माया-ममताकी मूर्ति रानी-मा हैं मानो।
तीसरी— आहा, देवी स्वर्गकी हैं, इस लोककी न जानो।
चौथी— अधम पतित भी न यहाँसे विमुख जाते,
अतिथि अनाथ यहाँ कितने शरण पाते।
मीरो— बहन, परन्तु एक बातका है फेर पड़ा,
देखनेमें मेरा राज-भवन है खूब बड़ा,
इतने हैं ज्यादा लोग भरे यहाँ ठसाठस,
घुस-पिस किसी तौर होता है गुजारा बस।
रहना तुम्हारा यहाँ कैसे होगा, हाय, यही
चिन्ता बड़ी-भारी मुझे, एक है उपाय यही,—
यदि राज-भवनको मैं ही छोड़-छाड़कर
चली जाऊँ बाहर औ' रहूँ तम्बू गाड़कर,—
पहली— अरी मैया, यह होगी कैसी वाहियात बात!
दूसरी— रानी-मा, अपार कष्ट होगा तुम्हें दिन-रात।
तीसरी— तम्बू तो तम्बू ही होगा, चाहे जैसा बढ़िया हो।
घर होते घोंसलेमें भीगोगी क्या चिड़िया हो?
पाँचवीं— दयासे पसीजकर कितना झुकोगी तुम?
महलोंकी रानी होके तम्बूमें रहोगी तुम!
छठी— देखेंगे तुम्हारी ऐसी दशा हमलोग जब,
लगेगी कलेजेमें हमारे कैसी ठेस तब!
कल्याणी— ऐसा कष्ट करनेका काम नहीं, तजो सब
चिन्ता, मुझे विदा दो, मैं जाना चाहती हूँ अब।
मीरो— तो क्या चली जाओगी ही? क्या करूँ बहन, कहीं
तिल रख सकूँ, यहाँ इतनी जगह नहीं।
माल-असबाब दास-दासी नाते-रिश्तेदार
ऐसे ठसाठस भरे जिनका न वारापार।
एकाएक किसीसे मैं कह दूँ कि रहो यहीं,

इतनी गुञ्जायश भी महलमें मेरे नहीं।
अच्छा जाओ। पर सुनो, एक है पोशीदा बात,
जो कुछ भी गहने हों पार किये रातों-रात,
रख जाओ मेरे पास; रहेंगे हिफाजतसे।

कल्याणी— कुछ भी न लाई,– देखो, आई किस हालतसे!
हाथोंमें दो चूड़ियाँ हैं, पावोंमें पाजेबें पड़ीं।

मीरो— अच्छा, जाओ। दुपहरी हो रही, है धूप कड़ी।
जी नहीं है ठीक। भोरे जादा बोलती हूं जभी,
सिरमें धमक मेरे होने लग जाती तभी।
मालती!

मालती— हुजूर।

मीरो— क्या कन्हैयाको न सुध आती,
स्नानके समय शहनाई है बजाई जाती?

मालती— डाटूं-फटकारूंगी निगोड़ेको मैं खूब आज।

[कल्याणीका प्रस्थान

मीरो— उठा रखो मेरा रत्न-सिंहासन और साज,
खत्म दरबार मेरा आजका हो गया अब।
मालती!

मालती— हुजूर।

मीरो— तूने देख तो लिया न सब
सुख यश लूटनेका?

मालती— मुझे बड़ी आती हँसी।
शेरनीसे चुहिया हैं बन गई, बुरी फँसी।

मीरो— मुझे देख, घर फूंक देना नामवरीपर,
जहाँ-तहाँ रुपया लुटाना आँख बन्द कर,
नीचों और अदनोंकी भीड़भाड़ जमा लेना,
पैसा फेंक ठाठबाट धूमधाम दिखा देना,

जितने भी ढोंग औ' ढकोसले हैं ऐसे सभी,
भूलके फकटती मैं उनके न पास कभी।

पहली— रानी-माकी बुद्धि जैसी ज्ञान और तत्त्व-भरी,
उस्तरे सरीखी वह वैसी ही है सान-धरी।

दूसरी— मूर्ख बहुतेरे हैं जो करते हैं दान-ध्यान,
भला-बुरा जाननेका किसको है ऐसा ज्ञान!

तीसरी— रानी-माकी आँखमें जो धूल झोंक जाय यहाँ,
ऐसा कौन कहाँ जन्मा, धूल भी है ऐसी कहाँ?

मीरो— रहने दो, रहने दो, तुम तो हो गीत गाती;
अपनी तारीफ सुन मुझे बड़ी शर्म आती।
मालती!

मालती— हुजूर।

मीरो— रानी कल्याणीके जैसे-जैसे
कीमती थे गहने, हैं किसीके भी नहीं वैसे।
अन्तमें दो चूड़ियाँ ही बच रहीं—देखकर
हँसीसे हो रहा मेरा बुरा हाल। तिसपर
सिर नहीं रानीजी झुकाना चाहती हों जैसे!
माँगेंगी तो भीख, पर ठस्से दिखलातीं कैसे!
राहकी भिखारिन हो राह-राह घूमती है,
रानीपना अपना परन्तु नहीं भूलती है।
विपदाके मारे लोग झुकके ही चलते हैं;
उनका गरूर देख प्राण मेरे जलते हैं।
अब यह हुल्लड़ है काहेका सुनाई देता?

मालती— दल भिखमंगोंका है ड्योढ़ीमें दिखाई देता।
पड़ा है अकाल यहाँ, चावलके बोरे-बस्ते,
जैसे लोग चाहते हैं वैसे नहीं हुए सस्ते।
इसीसे चिल्ला-चिल्लाके कान खाये जाते सभी,

बेंत लगें इनके तो ठण्डे पड़ जायँ अभी।

मीरो— नाम तो है फैला, 'रानी कल्याणी हैं बड़ी दाता!'
फिर मेरे द्वारपर हाथ क्यों फैलाया जाता?
कहो जाके पाँड़ेजीसे, बैठे हैं वे ड्योढ़ीपर,
इस भीड़भाड़को वे ले जायें पकड़कर,
'दाता रानी कल्याणी'के घरमें ढकेल आयें।
जायें वहाँ हुल्लड़ मचाके भीख माँग लायें।
जितना भी, जो कुछ भी इनको मिलेगा वहाँ,
उससे मैं पाँचगुना जादा इन्हें दूँगी यहाँ।

पहली— हँसा-हँसा हमें मारे डालतीं हमारी रानी।

तीसरी— रानी-मा तो रात-दिन रहतीं हँसाती हमें।

चौथी— इतना हँसातीं कि रुलाई है आ जाती हमें।

[दासीका प्रवेश]

दासी— ब्राह्मणी हैं आई एक, खड़ीं दरवाजेपर,
हुक्म हो, भगाऊँ उन्हें डाँट-फटकारकर।

मीरो— नहीं नहीं, बुला ला न, क्या जानें क्यों मन मेरा
बड़ा है प्रसन्न आज, क्यों किसीको जाय फेरा!

[ब्राह्मणीका प्रवेश]

ब्राह्मणी— यहाँ चली आई हूँ मैं विपदाकी चोट खाके।

मीरो— यह तो है जानी बात। बिना पड़े विपदाके
देखने हो आई नहीं मेरे चाँद-मुखड़ेको।
यह तो मालूम ही है, रोने आई दुखड़ेको।

ब्राह्मणी— मेरे घर चोरी हुई, सङ्कट है मुझपर।

मीरो— बदला हो लेने आई उसका क्या मेरे घर?

ब्राह्मणी— दया हो तुम्हारी, कुछ दुखियाको मिले दान,
ऐसे घोर सङ्कटसे इस बार बचें प्राण।

मीरो— चोरने की चोरी, और माल है तुम्हारा गया,
इसलिए आज तुम चाहती हो मेरी दया।
मेरी चली जायगी जो चीज तुम्हें दान कर,
इसलिए कौन दया कर देगा मुझपर ?

ब्राह्मणी— जिसके है धनका भण्डार वह सुख पाता।
दानसे ही धनका है सुख और बढ़ जाता।
सिर झुका उसका जो लेता हाथ फैलाकर ;
दुखपर और दुख भीख लेना पर-घर।
दुखिया लाचार हूँ मैं, तुममें सामर्थ्य सभी,
चाहो तो आसानीसे ही मुझे ठुकरा दो अभी।
मर्जी न हो, न दो, पर उसकी न आबरू लो
अपने अभाग्यसे जो आप ही बेआबरू हो।
अच्छा तो मैं जाती हूँ, बता दो किन्तु दया कर
कामना मैं पूरी करूँ जाके किस द्वारपर।

मीरो— नाम रानी कल्याणीका तुमने क्या सुना नहीं ?
उनकी बड़ाई है कि उन-सा न दाता कहीं !
उनके ही घर जरा एक बार चली जाओ,
मुँह-माँगी भीख देंगी, झोली जाके भर लाओ।
राह न मालूम हो तो आदमी बुलाया जाये,
रानीजीके महलमें तुम्हें जाके छोड़ आये।

ब्राह्मणी— अच्छा तो ऐसा ही होगा, मुझे वहाँ जाना होगा।
घर मेरा जाना-बूझा, तुम्हें न बताना होगा।
देख, मैं हूं वही लक्ष्मी ! आके आज तेरे घर
मेरा अपमान हुआ, जा रही हूं लौटकर।
पल्लेमें ले गाँठ बाँध, कह जो मैं रही अभी,
धनसे ही किसीका न मन बड़ा होता कभी।
कैसी-कैसी रानियाँ हैं, धनी भी हैं कैसे-कैसे,

सभीके न मन होते रानी कल्याणीके जैसे।

मीरो— छोड़ मुझे जाती हो तो कायदेसे जाओ तुम,
कोरनिश करके ही कदम बढ़ाओ तुम।
मालती, ओ मालती! ओ तारिणी, किधर गई?
चवँर डुलानेवाली कहाँ जाके मर गई!
एक सौ पचीस मेरी दासियाँ समाईं कहाँ!
बन्नो, कन्नो, काशी, कहाँ गईं,—कोई नहीं यहाँ!

[रानी कल्याणीका प्रवेश]

कल्याणी— पागल हो गई है क्या, हो क्या गया तुझे भला?
रात है, सबेरा नहीं, क्यों चिल्लाती फाड़ गला?
बोल तो, क्यों तूने घर सिरपर उठा लिया?
हाँक लगा-लगाके मोहल्ला सारा जगा दिया!

मीरो— अरे सचमुच ही तो हुई यह कैसी बात!
जाने कैसा सपना है देखा मैंने सारी रात।
बड़ा बुरा सपना विधाताने था मुझे दिया,
सपना क्या टूटा, मुझे किसीने उबार लिया।
ठहरो, चरण-धूल मुझे दो, हे दाता, तुम,
दासी मैं तुम्हारी सदा, सच्ची रानी-माता तुम।

बंगला-रचना : अगहन १९५४
हिन्दी-अनुवाद : वैशाख २००९

पाठकोंसे

श्री धन्यकुमार जैनके निर्देशानुसार 'रवीन्द्र-साहित्य'-ग्रन्थमालाका यह भाग मेरे अनूदित काव्योंसे निर्मित हुआ है। विश्वकविकी रचनाओंका अनुवाद करना मेरे जैसे अल्पज्ञके लिए दुःसाहस गिना जा सकता है, किन्तु जब तक योग्य विद्वान् इस कार्यके लिए अग्रसर नहीं होते, तब तक मेरे जैसे नगण्यका इस दिशामें कुछ प्रयत्न करना क्षन्तव्य होना चाहिए।

अनुवादमें कविके शब्दों और भावोंकी रक्षा करनेमें भरपूर चेष्टा की गई है। फिर भी, अनुवादकी अच्छाई और बुराईके विषयमें निर्णय देना पाठक पाठिकाओंके ही हाथ है। मुझे तो इस विषयमें अपनी ओरसे केवल इतना ही निवेदन करना है कि मेरे इस अनुवादमें जो कुछ भी अच्छाई प्रतीत हो उसका सम्पूर्ण श्रेय मूल-कविताको है, और जो कुछ त्रुटि मालूम हो वह अनुवादकी ही समझी जानी चाहिए।

—श्यामसुन्दर खत्री

संशोधन

पृष्ठ ३० में—तीन अशुद्धियाँ रह गई हैं, उन्हें सुधार लें। पंक्ति १ में 'लोट-लोट'की जगह 'लौट-लौट', पंक्ति ६ में 'अत्म-विस्मृत' की जगह 'आत्म-विस्मृति' और पंक्ति २५ में 'पथम'की जगह 'प्रथम' होगा। इसी तरह पृष्ठ ३३ की पंक्ति २१ में 'राग-रङ्ग'की जगह 'रण-रङ्ग' होगा।

विभिन्न भागोंकी विषय-सूची

[भाग १ से २३ तक]

नौवें-दसवें भागमें हैं :— एक उपन्यास : "उलझन" ('नौकाडूबी')

ग्यारहवें भागमें हैं :— दो नाटक : "डाकघर" और "नन्दिनी" (रक्तकरवी); एक काव्य : "कच और देवयानी" (अभिशाप-ग्रस्त विदा); और तीन कविताएँ।

बारहवें भागमें हैं :— एक उपन्यास : "आखिरी कविता" (भावुक प्रेमी-प्रेमिकाओंके प्रेमकी शेष परिणति : "हे बन्धु, मेरे मीत, गाती मैं विदाकी गीत")

तेरहवें भागमें है :— एक नाटक : "बाँसुरी" (उच्चकोटिका प्रेम-नाट्य); तीन काव्य : "कर्ण-कुन्ती संवाद", "कालकी यात्रा" और "देवताका ग्रास"। तीन निबन्ध : 'साहित्य-धर्म', 'मुक्तिकी दीक्षा' और 'पुस्तकालयोंका मुख्य कर्तव्य'।

चौदहवें भागमें है :— एक नाटक : "विसर्जन" (धर्मके नामपर पशुबलि और उसका परिणाम); और एक उपन्यास : "नष्टनीड़" ('बिगड़ा घर')

पन्द्रहवें भागमें है :— एक नाटक : "मालिनी"। सत्ताईस कविताएँ : "स्मरण" (पत्नीके वियोगमें कविका स्मरण); पाँच कहानियाँ : 'चोरीका धन', 'बैरागिन', 'बाबा', 'मुकुट' और 'स्त्रीकी चिट्ठी'।

सोलहवें भागमें है :— एक नाट्य-काव्य : "गान्धारीका आवेदन"। बारह कहानियाँ : 'मेघ और धूप', 'आखिरी रात', 'पड़ोसिन', 'अतिथि' 'राज-तीलक' इत्यादि। एक निबन्ध : "शिक्षाका स्वात्मीकरण"।

सत्रहवें भागमें है :— एक नाटक : "तपती" (काश्मीरकी राजकुमारी और जालन्धरके राजाके प्रेमकी परिणति); दो प्रहसन : 'वैकुण्ठका पोथा' और 'स्वर्गीय प्रहसन'।

अठारहवें भागमें है :— कविकी आत्म-कथा : "जीवन-स्मृति"

उन्नीसवें भागमें हैं :— 'तीन साथी' (तीन छोटे उपन्यास)

बीसव भागमें है :— कविके शेष-जीवनकी कविताएँ।

इक्कीसवं-बाइसवें भागमें है :— सुप्रसिद्ध उपन्यास : "आँखकी किरकिरी"

तेईसवें भागमें हैं :— दो नाट्यकाव्य, 'चित्राङ्गदा' और 'लक्ष्मीकी परीक्षा'।

प्रत्येक भागका मूल्य सवा दो रुपया और संयुक्त भागका साढ़े-चार रुपया